इतिहास क्या है

ई० एच० कार

भारतीय पाठकों के लिए

मेरी पुस्तक 'व्हाट इज हिस्ट्री' का हिंदी में प्रकाशन मेरे लिए आनंद और सम्मान का विषय है। मैंने इस पुस्तक में जिन ऐतिहासिक व्यक्तित्वों और घटनाओं का उल्लेख किया है, वे गैर यूरोपियों की अपेक्षा यूरोपियों से अधिक परिचित हैं। परंतु इस पुस्तक का मूल उद्देश्य है, इतिहास के सिद्धांतों को सामान्यता तथा व्यापकतर स्तर पर व्यवहृत करना और उनके महत्व को रेखांकित करना। मैंने यहां प्रतिपादित किया है कि अतीत का कोई भी सार्थक अध्ययन निश्चित रूप से भविष्य की अंतर्दृष्टि द्वारा प्रेरित और आलोकित होगा और यह भी कि आज जबकि विश्व का प्रत्येक देश कठिन आर्थिक सामाजिक समस्याओं से जूझ रहा है। 'समय' के विस्तार में मानवजाति की प्रगति की प्रक्रिया पर ही इतिहास की अवधारणा की जानी चाहिए, यह दृष्टिकोण विरोधाभास से ग्रस्त लग सकता है, मगर मेरा यह विश्वास है कि यदि हम अतीत का गंभीर और विचारपूर्ण अध्ययन करें तो इतिहास हमें आश्वस्त कर सकता है और उसे करना भी चाहिए। वह हमें भविष्य के प्रति आशान्वित कर सकता है कि हम ऐसे समय की उत्सुकता से प्रतीक्षा करें जब मानव जाति अपेक्षाकृत स्थाई समाजव्यवस्था की दिशा में नए उत्साह के साथ अपनी यात्रा के अगले पड़ाव की ओर कूच करेगी और सभ्यता के विकास में गैर यूरोपीय जन यूरोपियों के कंधे से कंधा मिलाकर समकक्ष भूमिका निभाएंगे, वह भूमिका जिससे गत शताब्दियों में उन्हें वंचित रखा गया है।

ई० एच० कार
मई 1976

अनुक्रम

1

इतिहासकार और उसके तथ्य

इतिहास क्या है ? कोई इस प्रश्न को निरर्थक या अनावश्यक न समझ ले इसलिए मैं 'कैंब्रिज माडर्न हिस्ट्री' के पहले और दूसरे संस्करणों से क्रमशः दो अंश उद्धृत करना चाहूंगा। कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस सिंडीकेट के सदस्यों के समक्ष अक्तूबर, 1896 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए ऐक्टन ने जिस पुस्तक के संपादन का भार स्वीकार किया था, उसके बारे में वह कहता है :

> 19वीं शताब्दी ने हमें ज्ञान की जो संपूर्णता दी है, उसको बहुसंख्यक पाठकों के लिए लाभदायक बनाने का हमको यह अद्वितीय अवसर मिला है···श्रम के न्यायपूर्ण बंटवारे से हम इसे संपन्न करने में सफल होंगे और हम हर पाठक के लिए अंतर्राष्ट्रीय शोध के परिपक्व परिणाम तथा सभी दस्तावेज सुलभ कर सकेंगे।
>
> हम अपनी पीढ़ी में अंतिम इतिहास नहीं लिख सकते लेकिन हम परंपरागत इतिहास को रद्द कर सकते हैं और इन दोनों के बीच प्रगति के उस बिंदु को दिखा सकते हैं जहां हम पहुंचे हैं। सभी सूचनाएं हमारी मुट्ठी में हैं और हर समस्या समाधान के लिए पक चुकी है।[1]

और प्रायः साठ साल बाद लिखी 'कैंब्रिज माडर्न हिस्ट्री' (द्वितीय संस्करण) की भूमिका में ऐक्टन तथा उसके सहयोगियों के इस विश्वास पर कि एक दिन अंतिम इतिहास लिखा जाना संभव होगा, मंतव्य व्यक्त करते हुए प्रो० सर जार्ज क्लार्क ने लिखा :

> बाद की पीढ़ी के इतिहासकार इस तरह की किसी संभावना की आशा नहीं रखते। उन्हें उम्मीद है कि उनकी कृतियों को पीछे छोड़ जाने वाली कृतियां बार बार लिखी जाएंगी। वे मानते हैं कि अतीत का ज्ञान उन्हें एक या अधिक मानव मस्तिष्कों के माध्यम से प्राप्त हुआ है, उनके द्वारा समायोजित है और इसलिए उनमें इस तरह के अवैयक्तिक तथा आधारभूत अणु नहीं हो सकते जो बदले न जा सकें···यह खोज सीमातीत लगती है और कुछ धैर्यहीन विद्वान संशयवाद से ग्रस्त हो जाते हैं कि चूंकि सभी ऐतिहासिक अवधारणाएं व्यक्तियों तथा दृष्टिकोणों के माध्यम से बनती हैं इसलिए उनमें कोई गुणात्मक अंतर नहीं होता और 'वस्तुगत' ऐतिहासिक सत्य जैसी कोई चीज नहीं होती।[2]

जहां इतिहास के पंडित एक दूसरे के चरम विरोध में वक्तव्य दे रहे हों उस क्षेत्र

की खोजबीन होनी चाहिए। आशा करता हूं कि मैं पर्याप्त रूप से इस अधुनातन ज्ञान की पहचान रखता हूं कि उन्नीसवीं शताब्दी के नवें दशक में जो कुछ लिखा गया वह बकवास था, किंतु मैं स्वयं को इतना अधिक सक्षम नहीं पाता कि 1950 में जो कुछ लिखा गया वह निश्चय ही अर्थवान है, इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लूं। वस्तुतः आपको लग रहा होगा कि यह पड़ताल इतिहास की प्रकृति से कहीं वृहत्तर क्षेत्र में हमें ले जा सकती है। ऐक्टन तथा सर जार्ज क्लार्क के विचारों में जो विरोध है वह उन दो वक्तव्यों के बीच की अवधि में समाज संबंधी हमारे दृष्टिकोणों के बदलाव का प्रतिबिंब है। ऐक्टन के विचारों में उत्तर विक्टोरिया काल का निश्चयात्मक विश्वास तथा परिष्कृत आत्मविश्वास बोल रहा है; सर जार्ज क्लार्क 'बीट' पीढ़ी के संशयवाद और उद्विग्नता को व्यक्त कर रहे हैं। इतिहास क्या है? जब हम इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश करते हैं तब जाने अनजाने 'समय' में अपनी अवस्थिति को प्रतिध्वनित करते हैं और हमारा उत्तर उस वृहत्तर प्रश्न का एक भाग होता है कि जिस समाज में हम रहते हैं उसके बारे में हम क्या सोचते हैं। मुझे यह डर नहीं है कि गहराई में जाने पर यह विषय साधारण लगेगा बल्कि मुझे डर इस बात का है कि इतने विशाल तथा महत्वपूर्ण प्रश्न को उठाने के मेरे दुस्साहस पर आपको आश्चर्य होगा।

उन्नीसवीं शताब्दी तथ्यों की दृष्टि से महान थी। मि० ग्राडग्रिंड ने 'हार्ड टाइम्स' में लिखा था : 'मुझे तथ्य चाहिए'''जीवन में हमें सिर्फ तथ्यों की आवश्यकता है।' 19वीं शताब्दी के इतिहासकार उनसे सहमत थे। 19वीं शताब्दी के चौथे दशक में जब रैंक ने इतिहास को उपदेशात्मक बनाने के विरोध में कहा था कि इतिहासकार का दायित्व इतिहास को 'सिर्फ उस रूप में दिखाना है जैसा कि वह सचमुच था' तब यह उक्ति बहुत लोकप्रिय हुई थी हालांकि यह उतनी महत्वपूर्ण नहीं है। इसके बाद जर्मनी, ब्रिटेन तथा फ्रांस के इतिहासकारों की तीन पीढ़ियां इस करामाती कहावत को मंत्र की तरह दोहराते हुए इतिहास लेखन में जुट गईं। अन्य मंत्रों की तरह इस मंत्र का जाप भी वे केवल इसलिए कर रहे थे कि उन्हें खुद सोचने के कठिन काम से मुक्ति मिल जाए। इतिहास एक विज्ञान है इस दावे को साबित करने की उत्सुकता में प्रत्यक्षवादियों ने इस 'तथ्य संप्रदाय' को अपना समर्थन दिया। उनका कहना था कि पहले तथ्यों की जांच करो और फिर उनसे अपने नतीजे निकालो। ग्रेट ब्रिटेन में इतिहास का यह दृष्टिकोण लाक से बर्ट्रेंड रसेल तक की अनुभववादी मुख्य दार्शनिक विचारधारा से पूरी तरह मेल खाता था। ज्ञान का अनुभववादी सिद्धांत विषय और वस्तु को पूर्णतया विच्छिन्न मानता है। इंद्रियों के अनुभव की तरह तथ्य अध्ययन करने वाले पर बाहर से प्रभाव डालते हैं और उसकी चेतना से स्वतंत्र होते हैं। इन्हें ग्रहण करने की प्रतिक्रिया निष्क्रिय होती है। आंकड़ों को प्राप्त करके वह उनके आधार पर सक्रिय होता

है। अनुभववादी संप्रदाय के इतिहासकारों द्वारा लिखी एक अच्छी मगर सोद्देश्य पुस्तक 'आक्सफोर्ड शार्टर इंगलिश डिक्शनरी' में इन दोनों प्रतिक्रियाओं के अंतर को स्पष्ट किया गया है। उसमें तथ्य की परिभाषा यों दी गई है: 'अनुभव के वे आंकड़े जो निष्कर्ष से भिन्न होते हैं।' इसे हम इतिहास का सामान्य दृष्टिकोण कह सकते हैं। इतिहास में हमें जांचे-परखे तथ्यों का एक संग्रहीत रूप मिलता है। इतिहासकार को ये तथ्य दस्तावेजों, हस्तलेखों आदि से मिलते हैं। ये सब तथ्य मछुआरे की पटिया पर पड़ी मछलियों की तरह होते हैं। इतिहासकार उन्हें इकट्ठा करता है, घर ले जाता है, पकाता है और अपनी पसंद की शैली में परोस देता है। ऐक्टन ने तथ्यों को बिना नमक मिर्च के परोस दिया था क्योंकि उसकी रुचि सादी थी। पहले 'कैंब्रिज माडर्न हिस्ट्री' के सहयोगी लेखकों को हिदायतें देते हुए उसने लिखा था: 'हमारा वाटर लू ऐसा होगा जिससे फ्रांसीसी, अंगरेज, जर्मन और डेनमार्कवासी सभी संतुष्ट हों, लेखकों की सूची देखे बिना कोई यह न बता सके कि आक्सफोर्ड के बिशप ने कलम कहां रोकी और उसके बाद केयर बैर्न ने कलम उठाई या गास्केट ने, लीबरमान या हैरिसन ने।'[3] सर जार्ज क्लार्क ने भी इतिहास में 'तथ्यों की गुठली' से चारों ओर के विवादास्पद व्याख्या के गूदे[4] को अलग माना है हालांकि ऐक्टन के ऐतिहासिक दृष्टिकोण की उन्होंने आलोचना की है। यह उदाहरण देते हुए वे इस तथ्य को भी भूल गए कि गुठली से कहीं ज्यादा काम का बाहरी गूदा होता है। पहले सीधे तथ्य को अपनाइए फिर उसकी व्याख्या के दल-दल में कूद पड़िए, यही है अनुभववादी तथा 'सामान्य ज्ञान' संप्रदाय के इतिहास-कारों का अंतिम ज्ञान। इससे मुझे उस महान उदारवादी पत्रकार सी० पी० स्काट की वह प्रसिद्ध उक्ति याद आ रही है: 'तथ्य पवित्र हैं, मंतव्यों पर कोई बंधन नहीं।'

मैं सोचता हूं इस तरह काम नहीं चलेगा। अतीत ज्ञान की प्रकृति के संबंध में दार्शनिक बहस में मैं नहीं पड़ूंगा। आइए, मान लें कि रूबीकान नदी को सीजर ने पार किया, इस तथ्य को और इस कमरे के बीच में एक मेज है, इसे एक ही अथवा दो तुलनीय तथ्य मान लें। हम यह भी मान लें कि ये दोनों तथ्य एक ही तरीके से अथवा तुलनीय तरीके से हमारी चेतना में प्रवेश करते हैं। साथ ही एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करें जो इन दोनों को जानता है और इसका उनसे समान वस्तुगत चरित्र वाला संबंध है। मगर इतनी अस्पष्ट तथा असंगत कल्पना के बावजूद हमारा तर्क एक कठिनाई में फंस जाता है। कठिनाई यह है कि अतीत के सभी तथ्य ऐतिहासिक तथ्य नहीं होते और न ही इतिहासकार उन्हें तथ्य के रूप में स्वीकार करते हैं। ऐतिहासिक तथ्यों को अतीत के दूसरे तथ्यों से अलगाने का क्या आधार हो सकता है?

ऐतिहासिक तथ्य क्या हैं? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है जिस पर हमें थोड़ा

और बारीकी से विचार करना चाहिए। 'सामान्य ज्ञान' दृष्टिकोण के अनुसार कुछ मूलभूत तथ्य होते हैं जो सभी इतिहासकारों के लिए समान हैं, दूसरे शब्दों में इतिहास की रीढ़ हैं। उदाहरणस्वरूप यह तथ्य कि हेस्टिंग्स की लड़ाई 1066 में लड़ी गई। पहली बात तो यह कि इतिहासकार मूलतः इस तरह के तथ्यों से नहीं उलझता। निश्चय ही यह जानना महत्वपूर्ण है कि हेस्टिंग्स की लड़ाई 1066 में लड़ी गई, 1065 या 1067 में नहीं और यह भी कि वह हेस्टिंग्स में ही लड़ी गई ईस्टबोर्न या ब्रिटेन में नहीं। निश्चय ही इतिहासकार को चाहिए कि वह इस तरह की सही जानकारी रखे। मगर जब इस तरह के मुद्दे उठाए जाते हैं तो मुझे हाउसमान की वह उक्ति याद आती है : 'यथातथ्य होना एक दायित्व है, कोई गुण नहीं।'[5] किसी इतिहासकार की यथातथ्यता की प्रशंसा वैसी ही है जैसे किसी वास्तुकार की इसलिए तारीफ की जाए कि उसने अपने भवन में पुरानी लकड़ियों का प्रयोग किया है अथवा कंक्रीट का सही घोल बनाया है। यह तो उसके काम के लिए एक आवश्यक शर्त है, उसका कोई वास्तविक कार्य नहीं। इसी तरह के मामलों में इतिहासकार को इतिहास के सहायक विज्ञानों पर निर्भर रहने का हक होता है। वे सहायक विज्ञान हैं : 'वास्तुकला, शिलालेख, मुद्राशास्त्र, कालक्रम-विज्ञान आदि। जरूरी नहीं कि इतिहासकार के पास उस तरह की विशेषज्ञता हो जिसके आधार पर कोई संगमरमर के अथवा मिट्टी के बर्तन के एक टुकड़े को देखकर उसके मूल स्रोत और काल का पता लगा लेता है या किसी पुराने शिला-लेख को पढ़ लेता है या किसी विशेष तिथि को पाने के लिए लंबे चौड़े ज्योतिष के गणित लगा लेता है। तथाकथित मूलभूत तथ्य हर इतिहासकार के लिए समान होते हैं, और उसके लिए कच्चे माल की तरह होते हैं। वे इतिहास का कच्चा माल नहीं होते बल्कि इतिहासकार का कच्चा माल होते हैं। दूसरी बात यह है कि इन मूलभूत तथ्यों को स्थापित करने की आवश्यकता तथ्यों के भीतर निहित किसी गुण पर आधारित नहीं होती बल्कि इतिहासकार के पूर्वनिर्धारित निर्णय में होती है। सी० पी० स्काट की सूक्ति के बावजूद आज हर पत्रकार जानता है कि जनता की राय को प्रभावित करने का सबसे प्रभावी तरीका यह है कि वह जो प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है उसके अनुरूप तथ्यों का चुनाव करे और उन्हें उचित तरीके से पेश करे। कहा जाता था कि तथ्य खुद बोलते हैं, मगर यह बात सही नहीं है। तथ्य तभी बोलते हैं जब इतिहासकार उन्हें बुलाता है। यह वही तय करता है कि किन तथ्यों को किस क्रम और संदर्भ में वह मंच पर बुलाएगा। मेरा ख्याल है पिरांदली के एक चरित्र ने कहा था कि तथ्य बोरे की तरह होते हैं, जब तक उनमें कुछ भरा न जाए वे खड़े नहीं होते। हेस्टिंग्स की लड़ाई 1066 में लड़ी गई इस जानकारी में हमारी दिलचस्पी का कारण यही है कि इतिहासकार इसे एक बड़ी ऐतिहासिक घटना मानते हैं। इतिहासकार ने

निजी कारणों से यह तय किया कि रूबीकान नामक उस मामूली सी नदी का सीजर द्वारा पार किया जाना एक ऐतिहासिक तथ्य है जबकि उसके पहले और बाद में जिन करोड़ों लोगों ने उसे पार किया उनमें किसी की दिलचस्पी नहीं है। इतिहासकारों ने उन्हें ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार नहीं किया। दरअस्ल एक घंटा पहले पैदल, साइकिल या कार पर आप लोग इस भवन में आए यह अतीत का वैसा ही एक तथ्य है जैसा सीजर का रूबीकान नदी पार करना है मगर इतिहासकार संभवत: इसकी उपेक्षा कर जाएंगे। प्रो० टैलकाट पार्सन्स ने एक बार विज्ञान के बारे में कहा था कि वह यथार्थ के अनुभवाश्रयी स्थिति ज्ञान की विणिष्ट प्रक्रिया है।[6] इसे और सरल शब्दों में कहा जा सकता था मगर और दूसरी चीजों के साथ साथ इतिहास की भी वही प्रक्रिया है। इतिहासकार आवश्यक रूप से चुनाव पर बल देता है। एक कुतर्क यह दिया जाता है कि ऐतिहासिक तथ्य वस्तुगत तथा इतिहासकार की व्याख्या से एकदम अलग स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। मगर इस असंगत विश्वास को तोड़ना कठिन है।

आइए हम उस प्रक्रिया को देखें जिसके अधीन अतीत का एक सामान्य सा तथ्य ऐतिहासिक तथ्य में रूपांतरित हो जाता है। स्टैली ब्रिज वेक्स में 1850 में जिंजरब्रैड (अदरख की रोटी) के एक खोमचे वाले को एक क्रुद्ध भीड़ ने मामूली सी बात पर पीट पीट कर मार डाला था। क्या यह एक ऐतिहासिक तथ्य है? साल भर पहले अगर यह सवाल मुझसे कोई पूछता तो बेझिझक मेरा जवाब होता, नहीं। इस घटना का जिक्र एक प्रत्यक्षदर्शी ने अपने संस्मरण में किया[7] जिस पर किसी का ध्यान ही नहीं गया। किसी इतिहासकार ने इस घटना को उल्लेखनीय माना हो, ऐसा मैंने नहीं देखा। साल भर पहले डा० किट्सन क्लार्क ने आक्सफोर्ड की फोर्ड भाषणमाला में इस घटना का जिक्र किया।[8] क्या यह घटना इससे ऐतिहासिक तथ्य बनी? मेरा ख्याल है अभी नहीं। इस तथ्य की मौजूदा स्थिति यह है कि ऐतिहासिक तथ्यों के चुने गए क्लब के सदस्यों में इसका नाम शामिल करने का प्रस्ताव किया जा चुका है। अब इसे एक समर्थक और एक प्रचारक चाहिए। संभव है कि अगले कुछ सालों में हम यह देखें कि पहले यह तथ्य फुटनोट में आए और फिर लेखों और पुस्तकों में 19वीं शताब्दी के इंग्लैंड का चित्र प्रस्तुत करे। इस प्रकार अगले बीस या तीस सालों के अंदर यह एक स्थापित ऐतिहासिक तथ्य बन सकता है। इसके विपरीत ऐसा भी हो सकता है कि कोई इसे उठाए ही नहीं और तब यह अतीत की उसी अनैतिहासिक तथ्यों की भीड़ में जा मिलेगा, विस्मृत हो जाएगा, जहां से डा० किट्सन क्लार्क ने उदारतापूर्वक इसका उद्धार करने की कोशिश की थी। इन दोनों में से कौन सी स्थिति घटित होगी इसका निर्णय कैसे किया जाए? मेरा ख्याल है इसका निर्णय इस बात पर निर्भर करेगा कि अन्य इतिहासकार उस सिद्धांत या व्याख्या को उल्लेखनीय और तथ्यपरक मानते हैं या नहीं जिसके

समर्थन में डा० किट्सन क्लार्क ने इस घटना का उल्लेख किया है। ऐतिहासिक तथ्य के रूप में इसकी स्थिति इसकी व्याख्या के प्रश्न से जुड़ी रहेगी। व्याख्या का यह तत्व इतिहास के हर तथ्य के साथ जुड़ा रहता है।

आप मुझे एक व्यक्तिगत संस्मरण सुनाने की इजाजत दें। जब मैं विश्वविद्यालय में, कई साल पहले, प्राचीन इतिहास का अध्ययन कर रहा था तो मेरे विशेष अध्ययन का एक विषय था, फारस युद्धकाल का यूनान। मैंने इस विषय से संबंधित पंद्रह बीस पुस्तकें अपनी आलमारी में जुटा लीं और यह मान बैठा कि अपने विषय से संबंधित तमाम तथ्य, जो उन पुस्तकों में एकत्र हैं, मेरी मुट्ठी में हैं। मान लीजिए कि उन पुस्तकों में मेरे विषय से संबंधित तमाम सामग्री और तथ्य जो उस समय तक उपलब्ध हो सकते थे, मुझे प्राप्त थे। यह बात लगभग सच भी थी, मगर उस समय मेरा ध्यान इस बात की ओर नहीं गया कि मुझे तथ्यों के चुनाव की उस प्रक्रिया की जांच करनी चाहिए जिसके अनुसार हजारों हजार सामान्य तथ्यों के बीच से उन पुस्तकों में प्राप्त तथ्यों को चुना गया होगा और उन्हें इतिहास के तथ्यों का दर्जा दिया गया होगा। मुझे लगता है कि आज भी प्राचीन तथा मध्यकालीन इतिहास का यह एक प्रमुख आकर्षण है कि हम अक्सर इस भ्रम के शिकार हो जाते हैं कि उस काल के तमाम तथ्य हमारी पहुंच की परिधि में सुविधापूर्वक प्राप्त हैं। ऐतिहासिक तथ्यों तथा दूसरे सामान्य तथ्यों के बीच जो खाई निरंतर बनी रहती है वह हमारे दिमाग से गायब हो जाती है क्योंकि हम यह मान लेते हैं कि जो थोड़े से तथ्य हमें प्राप्त हैं वे सब ऐतिहासिक तथ्य हैं। प्राचीन तथा मध्यकालीन इतिहास पर काम करने वाले बरी ने कहा था : 'प्राचीन तथा मध्यकालीन इतिहास की पुस्तकें अंतरालों से भरी पड़ी हैं।'[7] इतिहास को एक बड़ी आरी कहा गया है जिसके कई दांत गायब हैं, लेकिन असली कठिनाई अंतराल की नहीं है। 5वीं सदी ईसापूर्व के यूनान की हमारी तस्वीर अपूर्ण है। इसलिए नहीं कि किसी दुर्घटनावश इसके तमाम छोटे टुकड़े गायब हो गए हैं बल्कि इसलिए कि यह तस्वीर कमोवेश एथेंस नगर में रहने वाले एक छोटे से दल ने प्रस्तुत की है। एक एथेंस नागरिक की नजरों में 5वीं सदी का यूनान कैसा था इसके बारे में हमें काफी कुछ पता है मगर किसी स्पार्टा नागरिक, कोरिंथिया या थिबी नागरिक की नजरों में उसका रूप क्या था इसके बारे में हमें प्रायः कुछ भी नहीं मालूम। किसी फारसी या गुलाम या किसी दूसरे एथेंस के प्रवासी की निगाहों में वह तस्वीर क्या थी, इसे तो हम छोड़ ही दें। हमारी तस्वीर का खाका पहले से हमारे लिए तय कर दिया गया था और उसकी रेखाओं का चुनाव कर लिया गया था। ऐसा किसी दुर्घटनावश नहीं हुआ बल्कि जाने अनजाने एक विशेष दृष्टिकोण वाले लोगों द्वारा हुआ जिन्होंने केवल उन्हीं तथ्यों का चुनाव किया जो उनके दृष्टिकोण का समर्थन करते थे और जिस दृष्टिकोण को वे भविष्य के लिए छोड़ जाना चाहते थे। इसी

प्रकार मध्यकालीन इतिहास पर किसी आधुनिक पुस्तक में हम पढ़ते हैं कि मध्य युग के लोग धर्म से गहरे जुड़े हुए थे, तो मैं सोचता हूं कि हमें इस तथ्य का पता कैसे चला या कि क्या यह सच है। मध्यकालीन इतिहास के तथ्य के रूप में हमें जो कुछ मिलता है उसका चुनाव ऐसे इतिहासकारों की ऐसी पीढ़ियों द्वारा किया गया था जिनके लिए धर्म का सिद्धांत और व्यवहार एक पेशा था। इसीलिए उन्होंने इसे अत्यंत महत्वपूर्ण माना और इससे संबंधित हर चीज लिख गए। इसके अतिरिक्त जो दूसरी चीजें थीं उन्हें बहुत कम छुआ। 1917 की क्रांति ने रूसी किसान की अत्यंत धार्मिक तस्वीर को नष्ट कर दिया। मध्यकालीन मनुष्य की यह धार्मिक तस्वीर, सच्ची हो या झूठी, तोडी नहीं जा सकती क्योंकि उसके बारे में हमें आज जो भी तथ्य प्राप्त हैं हमारे लिए उनका चुनाव बहुत पहले ऐसे लोगों द्वारा किया गया जो उनमें विश्वास रखते थे और चाहते थे कि दूसरे भी उनमें विश्वास करें। तथ्य का एक बहुत बड़ा भाग, जिसमें शायद हमें इसका विरोधी प्रमाण मिलता, नष्ट हो चुका है और पुनः कभी नहीं पाया जा सकता। इतिहासकारों की अनेक व्यतीत पीढ़ियों के मृत हाथों ने, अज्ञात लेखकों तथा तिथिविदों ने हमारे अतीत का सांचा पूर्वनिश्चित तरीके से गढ़ दिया है जिसके खिलाफ किसी सुनवाई की कोई संभावना नहीं है। प्रो० बैरेकलो जो मध्ययुगीन इतिहास के आत्म प्रशिक्षित अध्येता हैं, कहते हैं : 'हम जो इतिहास पढ़ते हैं। हालांकि वह तथ्यों पर आधारित है, ठीक ठीक कहा जाए तो एकदम यथातथ्य नहीं है बल्कि स्वीकृत फैसलों का एक सिलसिला है।[10]

आइए हम आधुनिक इतिहास की उस दुर्गति पर नजर दौड़ाएं जो थोड़ी अलग होते हुए भी समान रूप से गंभीर है। प्राचीन तथा मध्ययुगीन इतिहासकार को अतीत की उस विशाल मंथनशील प्रक्रिया का कृतज्ञ होना चाहिए जिसने एक लंबी अवधि में ऐतिहासिक तथ्यों की एक सुविधाप्रद राशि उसके सामने ला रखी है। जैसा लेटन स्ट्रैची ने अपने खास शरारती अंदाज में कहा है : 'इतिहासकार की पहली आवश्यकता है अज्ञान। अज्ञान, जो उसके लिए चीजों को स्पष्ट और सरल बनाता हैं। जो चुनाव करता है और छोड़ता जाता है।[11] कभी कभी जब मुझे प्राचीन तथा मध्यकालीन इतिहास पर काम करने वाले अपने साथी इतिहासकारों की अपूर्व दक्षता से ईर्ष्या होती है तो मैं इस विचार में संतोष पाता हूं कि वे इतने दक्ष केवल इसलिए हैं कि उन्हें अपने विषय का इतना अज्ञान है। इस बने बनाए अज्ञान का कोई लाभ आधुनिक इतिहासकार को नहीं मिलता। यह आवश्यक अज्ञान उसे खुद पैदा करना पड़ता है। जितनी ही उसे इसमें सफलता मिलती है उतना ही वह अपने समय के पास आता जाता है। इस तरह उसका कर्तव्य दोहरा हो जाता है। महत्वपूर्ण तथ्यों को ऐतिहासिक तथ्यों के रूप में बदलना और बाकी महत्वहीन तथ्यों को अनैतिहासिक करार देकर रद्द कर देना। किंतु यह कर्तव्य 19वीं शताब्दी

में प्रचलित इस पाखंड के विपरीत है कि इतिहास बहुसंख्यक सुनिश्चित तथा वस्तुगत तथ्यों का एक संकलन होता है। अगर कोई इस पाखंड के प्रति समर्पित हो जाए तो उसे या तो कुकर्म मान कर इतिहास का अध्ययन छोड़ देना पड़ता है और डाक टिकट संग्रह जैसा कोई पुरातन से संबंधित काम शुरू कर देना पड़ता है, या फिर पागलखाने में दाखिल होना पड़ता है। इसी पाखंड के वशीभूत होकर पिछले सौ सालों में आधुनिक इतिहासकार बेहद विनाशकारी परिणामों के शिकार हुए हैं और जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन तथा अमरीका के आधुनिक इतिहासकारों ने धूल की तरह नीरस तथ्यपरक और इतिवृत्तात्मक इतिहास लेखन का अंबार खड़ा कर दिया है। इन्हीं लोगों के बीच वे भावी इतिहासकार भी हैं जिन्होंने सूक्ष्म तथा विशिष्ट मोनोग्राफ लिखे हैं। ये भावी इतिहासकार थोड़े से थोड़े विषय के बारे में ज्यादा से ज्यादा जानने की कोशिश में तथ्यों के सागर में डूबकर लापता हो गए हैं। मुझे संदेह है कि इसी पाखंड के कारण (उदार तथा कैथोलिक मताव-लंबियों के तथाकथित संघर्ष के कारण नहीं) ऐक्टन जैसे इतिहासकार को हताश होना पड़ा था। अपने एक आरंभिक निबंध में उसने अपने शिक्षक डूलिंगर के बारे में कहा था: 'वे अपर्याप्त सामग्री के आधार पर नहीं लिखेंगे और उनके लिए सामग्री कभी पूर्ण या पर्याप्त नहीं होगी।'[12] यहां निश्चित रूप से ऐक्टन अपने बारे में एक काल्पनिक फैसला दे रहा था। वह एक ऐसा इतिहासकार था जिसने कभी इतिहास नहीं लिखा मगर जिसे इस विश्वविद्यालय के आधुनिक इतिहास के 'रेगिएस चेयर' का सबसे प्रतिष्ठित तथा सम्मानित अधिष्ठाता माना जा सकता है। ऐक्टन ने अपनी मृत्यु के ठीक बाद छपे 'कैंब्रिज माडर्न हिस्ट्री' की भूमिका में जैसे अपना समाधि लेख लिखते हुए कहा था और अफसोस प्रकट किया था कि इतिहासकार पर जो दबाव पड़ रहे हैं वे उसे 'एक विद्वान के बजाय विश्व-कोश का एक संकलनकर्ता बनाने का खतरा पैदा कर रहे हैं।'[13] कहीं कुछ गड़बड़ था और वह गड़बड़ इसी विश्वास में था जिसके अधीन अथक रूप से ठोस तथ्यों को एकत्र करते जाने की अनवरत क्रिया को ही इतिहास की नींव रखना माना जाता था। गड़बड़ मूलतः इस विश्वास में थी कि तथ्य अपनी बात खुद कहते हैं और हमें बहुतेरे तथ्य प्राप्त नहीं हो सकते। यह विश्वास उन दिनों इतना प्रबल तथा दृढ़ था कि बहुत कम इतिहासकार यह आवश्यक समझते थे, कुछ आज भी इसे अनावश्यक मानते हैं, कि वे खुद से यह सवाल करें कि 'इतिहास क्या है?'

19वीं शताब्दी की तथ्यों के प्रति यह अंधश्रद्धा, दस्तावेजों के प्रति पूजा भाव के रूप में प्रतिफलित हुई। तथ्यों के मंदिर में दस्तावेज मूर्ति के समान स्थापित थे। पूजनीय इतिहासकार सिर झुकाए उनका अभिवादन करते थे और उनके बारे में भयमिश्रित आदर भाव से बात करते थे। अगर दस्तावेजों में आपको कोई चीज मिलती है तो उसे ज्यों का त्यों ही मान लेना पड़ेगा। मगर जब आप इन

दस्तावेजों, डिग्रियों, संधिपत्रों, करपत्रों, व्यक्तिगत विवरणों का अध्ययन करते हैं तो आपको ये क्या बताते हैं ? कोई भी दस्तावेज हमें केवल इतना ही बताता है कि उस दस्तावेज का लेखक कितना और कैसा सोचता था, घटनाओं के बारे में उसके विचार क्या थे या कि उसके अनुसार घटनाएं किस रूप में घटित हुई होंगी या उन्हें लेखक के अनुसार किस रूप में घटित होना चाहिए था, या कि संभवतः अपने विचारों के बारे में जितना या जिस रूप में वह दूसरों को बताना चाहता था या कि वह अपने विचारों के बारे में जो कुछ सोचता था। इनमें से किसी का कोई अर्थ नहीं होता जब तक कि इतिहासकार इनका अध्ययन करके लेखक का तात्पर्य न समझ ले। जब तक इतिहासकार दस्तावेजों में अथवा और कहीं प्राप्त तथ्यों का अध्ययन करके लेखक का तात्पर्य नहीं समझ लेता और प्राप्त तथ्यों की पड़ताल नहीं कर लेता तब तक उनका कोई उपयोग नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में उन तथ्यों का जो उपयोग वह करता है उसे पड़ताल की प्रक्रिया कहना उचित होगा।

मैं जो बात कहना चाहता हूं उसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना चाहूंगा। मैं जिस घटना का उदाहरण दे रहा हूं उसके बारे में मुझे पूरी जानकारी है। 1929 में जब वीमर रिपब्लिक का परराष्ट्र मंत्री गुस्ताव स्ट्रेसमान मरा तो वह बहुत से दस्तावेज पीछे छोड़ गया। तीन सौ बक्सों में भरे हुए ये सरकारी गैर-सरकारी और व्यक्तिगत दस्तावेज परराष्ट्र मंत्री के रूप में छः साल के उसके कार्यकाल में एकत्र प्रायः सभी कागजात थे। उसके मित्रों और संबंधियों ने सोचा कि इतने महान आदमी की यादगार में एक स्मारक जरूर बनना चाहिए। स्ट्रेसमान के स्वामिभक्त सचिव बर्नहार्ड ने इसका बीड़ा उठाया और तीन साल के अंदर छः सौ पृष्ठों वाले तीन मोटे ग्रंथ तैयार कर दिए। इन ग्रंथों में उन तीन सौ बक्सों के दस्तावेजों में से चुनी हुई सामग्री ली गई थी और इन्हें एक प्रभावशाली शीर्षक 'स्ट्रेसमान्स फेरमेश्टनेस' देकर छापा गया था। आमतौर पर ये दस्तावेज किसी तहखाने या अटारी में पड़े पड़े नष्ट हो गए होते और हमेशा के लिए हमारी नजरों से ओझल हो जाते या फिर सौ डेढ़ सौ साल बाद किसी जिज्ञासु विद्वान की नजर इन पर पड़ती और वह बर्नहार्ड के मूलपाठ से इनका मिलान करता। मगर जो हुआ वह कहीं ज्यादा नाटकीय था। 1945 से ये दस्तावेज ब्रिटिश तथा अमरीकी सरकारों के हाथ में पड़े। इनके फोटो लेकर सारी फोटोस्टेट प्रतियां 'पब्लिक रेकार्ड आफिस', लंदन और 'नेशनल आरकाइव्स', वाशिंगटन में विद्वानों के अध्ययन के लिए भेज दी गईं ताकि अगर हमारे पास पर्याप्त धैर्य और जिज्ञासा हो तो हम इस बात का पता लगा सकें कि वास्तव में बर्नहार्ड ने क्या किया था। उसने जो कुछ भी किया वह न तो कोई असाधारण बात थी, न ही सदमा पहुंचाने वाली। जब स्ट्रेसमान मरा तो उसकी पश्चिमी राजनीति को कई बड़ी सफलताएं

प्राप्त हुई थीं मसलन, लोकार्नो, 'लीग आफ नेशन्स' में जर्मनी का प्रवेश, डाविस और 'यंगप्लांस', अमरीकी ऋण और राइनलैंड से मित्र राष्ट्रों की सेनाओं की वापसी। यह स्ट्रेसमान की परराष्ट्रनीति की सफलता के परिणामस्वरूप था और इसीलिए उन दस्तावेजों को महत्व देना उचित लग रहा था। यह अस्वाभाविक नहीं था कि बर्नहार्ड द्वारा दस्तावेजों के चुनाव में इन सफलताओं को आवश्यकता से अधिक प्रतिनिधित्व मिलता। दूसरी ओर स्ट्रेसमान की पूर्वी राजनीति, खास तौर पर सोवियत संघ के साथ उसके संबंध, किसी खास दिशा में अग्रसर नहीं हो पाई थी इसलिए उन दोनों दस्तावेजों को महत्व नहीं दिया गया, जो पूर्वी राजनीति से संबंधित उन समझौता वार्ताओं पर आधारित थे जिनके नतीजे मामूली थे और स्ट्रेसमान का यश बढ़ाने में सहायक नहीं थे। उनके चुनाव में ज्यादा सख्ती बरती गई थी जबकि सच्चाई यह थी कि स्ट्रेसमान ने सोवियत संघ के साथ अपने देश के संबंध सुधारने में कहीं ज्यादा लगातार तथा उत्सुकतापूर्ण प्रयत्न किए थे और कुल मिलाकर उसकी परराष्ट्रनीति में इन प्रयत्नों ने एक बहुत बड़ी भूमिका अदा की थी। कम से कम बर्नहार्ड के संकलन को पढ़ने पर हमें जो अंदाजा लगता है उससे कहीं ज्यादा। मगर दस्तावेजों के दूसरे प्रकाशित संकलनों की तुलना में, जिन पर साधारण इतिहासकार इतना अधिक विश्वास करता है, बर्नहार्ड के संकलन अच्छे ही कहे जाएंगे।

मेरी कहानी यहीं खत्म नहीं होती। बर्नहार्ड के संकलनों के प्रकाशन के कुछ ही दिनों बाद सत्ता हिटलर के हाथों में आई। जर्मनी से स्ट्रेसमान का नाम मिट गया और उसके दस्तावेज पुस्तकालयों से हटा दिए गए। उनकी अधिकांश प्रतियां नष्ट कर दी गईं। आज 'स्ट्रेसमान्स फेरमेश्टनेस' एक दुर्लभ पुस्तक हो गई है। इसके बावजूद पश्चिम में स्ट्रेसमान का यश कम नहीं हुआ। 1935 में एक अंगरेजी प्रकाशक ने बर्नहार्ड के संकलनों से चुनकर एक संक्षिप्त अंगरेजी अनुवाद छापा। उसने मूल पुस्तक का एक तिहाई हिस्सा छोड़ दिया। एक बहुत अच्छे जर्मन अनुवादक सुटन ने अनुवाद का काम सफलतापूर्वक किया। अंगरेजी संस्करण की भूमिका में उसने लिखा कि 'इसे थोड़ा संक्षिप्त कर दिया गया है। केवल उन दस्तावेजों को छोड़ दिया गया है जिनका अस्थाई महत्व था और जो अंगरेजी पाठक और विद्यार्थी के लिए ज्यादा दिलचस्प नहीं थे।[14] ऐसा करना स्वाभाविक था लेकिन नतीजा यह हुआ कि स्ट्रेसमान की पूर्वी राजनीति जिसका प्रतिनिधित्व बर्नहार्ड में पहले ही कम था, पाठक की दृष्टि से और ज्यादा ओझल हो गया। सुटन की पुस्तक में सोवियत संघ की चर्चा कहीं कहीं अवांछित रूप में हुई है और स्ट्रेसमान की पश्चिमी राजनीति ही मुख्य रूप से उभरी है। फिर भी यह कहना ज्यादा सही होगा कि पश्चिमी दुनिया के लिए स्ट्रेसमान की परराष्ट्रनीति का वास्तविक प्रतिनिधित्व बर्नहार्ड तथा स्ट्रेसमान के दस्तावेजों की तुलना में सुटन

की पुस्तक ही ज्यादा कर सकी है। इस विषय के कुछ विशेषज्ञों को मैं अपने इस वक्तव्य में शामिल नहीं कर रहा हूं। अगर 1945 की बम वर्षा में ये दस्तावेज नष्ट हो गए होते और बर्नहार्ड की पुस्तकों की शेष प्रतियां भी नष्ट हो जातीं तो कभी भी सुटन की पुस्तक की सत्यता और प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता था। मूल दस्तावेजों के अभाव में इस तरह के कई प्रकाशित संकलन इतिहासकारों द्वारा कृतज्ञतापूर्वक अपनाए जाते हैं और उन्हें पक्का प्रमाण माना जाता है।

मगर मैं अपनी कहानी को एक कदम और आगे बढ़ाना चाहता हूं। आइए हम बर्नहार्ड और सुटन को भूल जाएं। किसी यूरोपीय इतिहास की पिछले दिनों घटी महत्वपूर्ण घटना को लें जिसमें भूमिका अदा करने वाले व्यक्तित्वों और व्यक्तियों के प्रामाणिक दस्तावेज हमें प्राप्त हैं। ये दस्तावेज हमें क्या बताते हैं? दूसरी चीजों के साथ हमें उनमें बर्लिन के सोवियत राजदूत के साथ स्ट्रेसमान की सैकड़ों वार्ताओं के और चिचेरिन के साथ प्रायः एक दर्जन वार्ताओं के विवरण प्राप्त हैं। इन विवरणों में एक बात आम तौर पर देखी जा सकती है, वह यह है कि इन वार्ताओं में स्ट्रेसमान ही अधिक बोला है और उसकी बातचीत तर्कपूर्ण तथा विश्वसनीय है, जबकि दूसरे पक्ष के तर्क मामूली, उलझे हुए और अविश्वसनीय हैं। राजनयिक वार्ताओं से संबंधित दस्तावेजों की यह एक परिचित प्रवृत्ति है। ये दस्तावेज हमें यह नहीं बताते कि वस्तुतः हुआ क्या था बल्कि केवल यह बताते हैं कि स्ट्रेसमान के विचार से क्या घटित हुआ था या वह दूसरों को इस घटना के बारे में सोचने के लिए क्या दे रहा था या कि शायद वह खुद जो कुछ उस घटना के बारे में सोचता था वही दिया गया था। सुटन और बर्नहार्ड ही नहीं बल्कि खुद स्ट्रेसमान ने तथ्यों के चुनाव की प्रक्रिया शुरू कर दी थी। अगर हमारे पास इन्हीं वार्ताओं के चिचेरिन द्वारा लिखे विवरण होते तो हम केवल यह जान पाते कि चिचेरिन उन घटनाओं के बारे में क्या सोचता था। मगर वास्तव में क्या घटित हुआ इसे इतिहासकार को नए सिरे से अपने दिमाग में पुनर्निर्मित करना होगा। तथ्य और दस्तावेज निश्चय ही इतिहासकार के लिए जरूरी होते हैं मगर वे उसके लिए अंधश्रद्धा की वस्तु नहीं होते। दस्तावेज और तथ्य अपने आप में इतिहास नहीं होते, और न ही 'इतिहास क्या है' जैसे थका देने वाले प्रश्न के वे बने बनाए उत्तर ही होते हैं।

यहां मैं इस प्रश्न पर विचार करूंगा कि आम तौर पर 19वीं शताब्दी के इतिहासकार इतिहास दर्शन के प्रति इतने उदासीन क्यों रहे। इतिहास दर्शन शब्द का आविष्कार वाल्टेयर ने किया था और तब से विभिन्न अर्थों में इसका प्रयोग होता आया है। लेकिन मुझे इजाजत दी जाए कि मैं केवल एक अर्थ में यानी 'इतिहास क्या है' इस प्रश्न के उत्तर के रूप में इसका प्रयोग करूं। पश्चिमी यूरोप

के बुद्धिजीवियों के लिए 19वीं शताब्दी एक खुशहाल समय था जो आत्मविश्वास और आशावादिता उत्पन्न करता था। कुल मिलाकर तथ्य संतोषजनक थे और उनके बारे में टेढ़े मेढ़े सवाल पूछने की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत कम थी। रैंक का यह पवित्र विश्वास था कि अगर इतिहासकार तथ्यों की देखभाल कर सके तो इतिहास का अर्थ भगवत् कृपा पर छोड़ दिया जाना चाहिए, और बर्कहार्ड अपने विचारों में जरा और आधुनिक संशयवाद के साथ कहता था : 'हमें परम ज्ञान के आशयों की दीक्षा अभी नहीं मिली है।' इसके बहुत बाद 1931 में प्रो० बटरफील्ड ने स्पष्ट संतोष के साथ कहा था कि : 'वस्तुओं की प्रकृति के बारे में और यहां तक कि अपने विषय की प्रकृति के बारे में इतिहासकारों ने बहुत कम विचार किया है।'[15] लेकिन इस भाषणमाला में मेरे पूर्व भाषणकर्ता डा० ए० एल० रोसे ने उचित रूप से आलोचना करते हुए सर विंस्टन चर्चिल द्वारा लिखित प्रथम विश्व-युद्ध पर आधारित पुस्तक 'वर्ल्ड क्राइसिस' के बारे में लिखा है कि यह पुस्तक जहां व्यक्तित्व, स्पष्टता तथा शक्ति में ट्राट्स्की द्वारा लिखित 'हिस्ट्री आफ दि रशन रिवोल्यूशन' का मुकाबला कर सकती है वहीं एक मायने में यह उससे निम्न स्तर की भी है क्योंकि 'इसके पीछे कोई इतिहास दर्शन नहीं है।'[16] ब्रिटिश इतिहासकार इस प्रश्न से अलग रहे, इसलिए नहीं कि उनके अनुसार इतिहास का कोई अर्थ नहीं होता बल्कि इसलिए कि उनका विश्वास था कि इतिहास का अर्थ स्पष्ट और स्वत: प्रमाणित है। इतिहास का 19वीं शताब्दी का उदारवादी दृष्टिकोण 'लैसेज फेयर' (अहस्तक्षेप नीति) के आर्थिक सिद्धांत से बहुत अधिक मेल खाता था और साथ ही एक संतुष्ट तथा आत्मविश्वासपूर्ण विश्व दृष्टिकोण का परिणाम था। प्रत्येक व्यक्ति अपना कार्य अच्छी तरह करता चले तो अदृश्य हाथ विश्व संतुलन बनाए रखेंगे। ऐतिहासिक तथ्य अपने आप में उस परम तथ्य का प्रदर्शन करते थे जो स्पष्ट रूप से लाभकारी था और अनंत उच्चतर प्रगति की ओर ले जाने वाला था। वह एक भोलेपन का युग था और इतिहासकार 'अदन के बाग' में इतिहास के देवता के सम्मुख बेशर्म होकर नंगे चले जाते थे। उनके पास अपने नंगेपन को ढकने के लिए दर्शन का एक भी टुकड़ा नहीं था। समय बीत चुका है और हमें अपने 'पाप' का ज्ञान प्राप्त हुआ है कि हमारा 'पतन' हुआ है। वे इतिहासकार जो आज भी इतिहास दर्शन की परवाह न करने का बहाना बना रहे हैं उनका प्रयास वैसा ही व्यर्थ और प्रवंचनापूर्ण है जैसे किसी 'न्यूडिस्ट कालोनी' के सदस्य अपने बगीचे में निर्वस्त्र होकर घूमें और यह सोचें कि उनका बगीचा अदन का बाग हो जाएगा। आज इस टेढ़े सवाल से हम नजर नहीं चुरा सकते।

इतिहास क्या है इस प्रश्न पर पिछले पांच वर्षों में काफी गंभीर कार्य किए गए हैं। इतिहास में तथ्यों की प्रमुखता और एकछत्रता को पहली चुनौती 19वीं

शताब्दी के नवें और अंतिम दशक में जर्मनी से मिली। जर्मनी, जिसे 19वीं शताब्दी के उदारतावाद को बाद में उखाड़ फेंकने के लिए एक अहम् भूमिका अदा करनी थी। आज उन दार्शनिकों के नाम प्रसिद्ध नहीं हैं जिन्होंने यह चुनौती दी थी। उनमें से एक थे डिल्थी जिनको पिछले दिनों ग्रेट ब्रिटेन में कुछ मान्यता प्राप्त हुई है हालांकि बहुत देर से। 20वीं शताब्दी के आरंभ के पूर्व इस देश में काफ़ी प्रगति और आत्मविश्वास था। 'तथ्य संप्रदाय' पर हमला करनेवालों पर ध्यान नहीं दिया जाता था। परंतु इस शताब्दी के आरंभ में यह प्रकाश इटली में प्रज्ज्वलित हुआ। वहां क्रोसे इतिहास दर्शन की बात कर रहा था जो स्पष्टत: अपने पूर्ववर्ती जर्मन दार्शनिकों से प्रभावित था। क्रोसे ने घोषणा की कि सभी इतिहास 'समसामयिक इतिहास'[17] होते हैं। इसका अर्थ यह कि इतिहास लेखन आवश्यक रूप से वर्तमान की आंखों से और वर्तमान की समस्याओं के प्रकाश में अतीत को देखना है और इतिहासकार का मुख्य कार्य विवरण देना नहीं बल्कि मूल्यांकन करना होता है क्योंकि अगर वह मूल्यांकन न करे तो उसे कैसे पता चलेगा कि क्या लिखना है। 1910 में अमरीकी इतिहासकार कार्ल बेकर ने जानबूझ कर उत्तेजित करनेवाली भाषा का इस्तेमाल करते हुए कहा था : 'इतिहास के तथ्य किसी भी इतिहासकार के लिए तब तक अस्तित्व में नहीं आते जब तक वह उनका निर्माण नहीं करता।'[18] इन चुनौतियों पर उस समय ध्यान नहीं दिया गया। 1920 के बाद ही फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन में क्रोसे को महत्व दिया जाने लगा। संभवत: इसका कारण यह नहीं था कि अपने जर्मन पूर्ववर्तियों की अपेक्षा क्रोसे अधिक सूक्ष्म चिंतक और बेहतर शैलीकार था बल्कि इसलिए कि प्रथम विश्व युद्ध के बाद, 1914 के पूर्वकाल की अपेक्षा तथ्यों की चमक फीकी पड़ गई थी और हम खुद एक ऐसे दर्शन को स्वीकार करने की मन:स्थिति में आ गए थे जो उनके सम्मान को धुंधला कर दे। आक्सफोर्ड दार्शनिक तथा इतिहासकार कालिंगवुड पर क्रोसे का अच्छा खासा प्रभाव था। कालिंगवुड 20वीं शताब्दी का अकेला अंगरेज विचारक है जिसने इतिहास दर्शन को महत्वपूर्ण योगदान दिया। उसने जिस व्यवस्थित पुस्तक की योजना बनाई थी उसे लिखने के लिए तो वह जीवित न रह सका किंतु उसके मरने के बाद उसके प्रकाशित तथा अप्रकाशित निबंधों का एक संग्रह 'दि आइडिया आफ हिस्ट्री' शीर्षक से 1945 में प्रकाशित हुआ।

कालिंगवुड के दृष्टिकोण को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं : इतिहास दर्शन का संबंध न तो 'अपने आप में अतीत से' होता है न ही 'अपने आप में अतीत के बारे में इतिहासकार के विचारों से' बल्कि उसका संबंध 'इन दोनों के पारस्परिक संबंध' से होता है (यह सिद्धांत वाक्य इतिहास शब्द के दो प्रचलित अर्थों को प्रतिबिंबित करता है, एक : इतिहासकार द्वारा की गई पड़ताल और दूसरा अतीत की घटनाओं का वह क्रम जिनकी वह पड़ताल करता

है)। 'अतीत जिसका इतिहासकार अध्ययन करता है मृत अतीत नहीं होता बल्कि ऐसा अतीत होता है जो किन्हीं अर्थों में वर्तमान में भी जीवित रहता है।' किंतु इतिहासकार के लिए अतीत में घटित घटनाएं तब तक होती हैं जब तक वह उनके पीछे कार्यरत विचार को नहीं समझ लेता। अतएव 'प्रत्येक इतिहास विचार का इतिहास होता है', और 'इतिहास इतिहासकार के मन में उन विचारों का पुर्ननिर्माण होता है जिनका इतिहास वह अध्ययन कर रहा होता है।' इतिहासकार के मन में अतीत का पुर्ननिर्माण उसके अनुभूत प्रमाणों पर आधारित होता है मगर अपने आप में यह एक अनुभवाश्रयी प्रक्रिया नहीं है और केवल तथ्यों के वर्णन तक सीमित नहीं हो सकती। इसके विपरीत पुर्ननिर्माण की यह प्रक्रिया तथ्यों के चुनाव और व्याख्या को निर्धारित करती है : और सचमुच यही उन्हें ऐतिहासिक तथ्य बनाती है। इस मुद्दे पर प्रो० ओकशाट के विचार कालिंगवुड से मिलते हैं। उनके अनुसार, "इतिहास इतिहासकार का अनुभव है। इतिहासकार के अलावा और कोई इसका 'निर्माण' नहीं करता और उसका निर्माण करने का एकमात्र रास्ता है इतिहास लेखन।"[19]

यह गवेषणापूर्ण आलोचना, अपनी गंभीर सीमाओं के बावजूद कुछ उपेक्षित सत्यों को प्रकाश में लाती है।

पहली बात तो यह कि इतिहास के तथ्य हमें कभी शुद्ध रूप में नहीं मिलते क्योंकि शुद्ध रूप में वे न रहते हैं और न रह सकते हैं; वे हमेशा लेखक के मस्तिष्क में रंग कर आते हैं। बाद में जब हम इतिहास का कोई कार्य शुरू करते हैं तो हमारा ध्यान सबसे पहले उसमें प्राप्त तथ्यों पर केंद्रित नहीं होना चाहिए बल्कि उस इतिहासकार पर होना चाहिए जिसने उसे लिखा है। उदाहरण के रूप में हम उस महान इतिहासकार को लें जिसके सम्मान में और जिसके नाम पर यह व्याख्यान माला चलाई जा रही है। जैसा जी० एम० ट्रेवेलान ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, "उनका पालन पोषण एक ऐसे परिवार में हुआ था जिसमें 'ह्विग परंपरा' काफी मात्रा में वर्तमान थी।"[20] मैं आशा करता हूं कि अगर मैं उसे ह्विग परंपरा का अंतिम महान उदारवादी अंगरेज इतिहासकार कहूं तो उसे स्वीकार करने में उसे आपत्ति न होगी। वह अपनी वंश परंपरा की जड़ें महान ह्विग इतिहासकार जार्ज ओटो ट्रेवेलान से लेकर ह्विग इतिहासकारों में महानतम मैकाले तक यूं ही खोजता नहीं फिरता। उसी पृष्ठभूमि में ट्रेवेलान की श्रेष्ठतम तथा सबसे परिपक्व कृति (इंग्लैंड अंडर क्वीन ऐन) लिखी गई थी। इस कृति का पूरा अर्थ तथा महत्व पाठक के सामने तभी स्पष्ट होगा जब वह इसे उक्त पृष्ठभूमि में रखकर देखे। ऐसा करने में असफल होने का कोई बहाना पाठक के लिए उपरोक्त लेखक नहीं छोड़ता। अगर जासूसी उपन्यासों के प्रेमी पाठकों की टेकनीक के अनुसार आप अंतिम पृष्ठों को पहले पढ़ें तो आप पाएंगे कि तीसरे खंड के अंतिम कुछ पृष्ठों में इतिहास को ह्विग

दृष्टि से व्याख्यायित करने की प्रणाली के बेहतरीन उदाहरण के रूप में पुस्तक का सार दिया गया है। आप देखेंगे कि ट्रेवेलान ह्विग परंपरा के उद्‌भव और विकास को खोजने की कोशिश कर रहा है। और इसके जन्मदाता विलियम तृतीय की मृत्यु के बाद के वर्षों में इस परंपरा की जड़ों को बहुत ही सफाई तथा मजबूती से स्थापित करना चाहता है, हालांकि शायद क्वीन ऐन के शासन काल की घटनाओं की यह एकमात्र संभव व्याख्या नहीं है फिर भी यह एक वास्तविक और ट्रेवेलान के हाथों में एक फलप्रद व्याख्या है। इसको पूरी तौर से समझने के लिए आपको यह जानना आवश्यक होगा कि इतिहासकार क्या कर रहा है क्योंकि जैसा कि कालिंगवुड कहता है यदि इतिहासकार के लिए यह जरूरी है कि वह अपने ऐतिहासिक चरित्रों के मानसिक स्वरूप को अपने मस्तिष्क में पुनर्निमित करे तो क्रमश: पाठक के लिए भी यह जरूरी होना चाहिए कि इतिहासकार के मानसिक स्वरूप को अपने मस्तिष्क में पुनर्निर्मित कर ले। तथ्यों का अध्ययन शुरू करने से पहले इतिहासकार का अध्ययन शुरू करना चाहिए। कुल मिलाकर यह कोई कठिन काम नहीं है। यह एक ऐसा काम है जो माध्यमिक स्कूल का विद्यार्थी करता है जब उसमें सेंट जूड के महान विद्वान जोन्स की कोई पुस्तक पढ़ने को कहा जाता है तो वह सेंट जूड के अपने किसी दोस्त से पहले पूछता है: 'यार, ये तुम्हारा जोन्स कैसा आदमी है? उसे क्या परेशानी है? जब आप इतिहास की कोई पुस्तक पढ़ते हैं तो हमेशा कान लगाकर उसके पीछे की आवाज को सुनें। अगर आपको कोई आवाज नहीं सुनाई पड़ती तो इसका एक मतलब तो यह है कि आप एकदम बहरे हैं और दूसरा यह कि आपका इतिहासकार एकदम बोदा है। इतिहास के तथ्य मछुआरे की पटरी पर पड़ी मरी हुई मछलियां नहीं हैं, वे जीवित मछलियों की तरह हैं जो एक विशाल तथा अगाध समुद्र में तैर रही हैं। इतिहासकार के हाथ में कौन सी मछलियां आएंगी यह कुछ तो संयोग पर निर्भर करता है मगर मुख्यत: इस बात पर निर्भर करता है कि वह समुद्र के किस हिस्से में मछली मारने का इरादा रखता है और किस ढंग से कांटों का इस्तेमाल करता है। कुल मिलाकर, इतिहासकार जिस प्रकार के तथ्यों की खोज कर रहा है उसी प्रकार के तथ्यों को पाएगा। इतिहास का अर्थ है व्याख्या। सचमुच अगर सर जार्ज क्लार्क को सिर के बल खड़ा करके हम इतिहास को व्याख्याओं की गुठली पर लिपटा विवादास्पद तथ्यों का गूदा कहें तो मेरा कथन निश्चित रूप से एकांगी और भ्रामक होगा, लेकिन उनके मूल कथन से अधिक नहीं।

दूसरा मुद्दा कहीं ज्यादा परिचित है और वह यह है कि उसे उन व्यक्तियों के मानसिक स्वरूप और उनके कार्यों के पीछे काम करने वाले विचारों की कल्पनात्मक समझ होनी चाहिए जिनको लेकर वह इतिहास लिख रहा है। मैं जानबूझ कर 'सहानुभूति' के बजाय कल्पनात्मक समझ का प्रयोग कर रहा हूं जिससे सहानु-

भूति को सहमति न मान लिया जाए। जहां तक मध्यकालीन इतिहास का प्रश्न है 19वीं शताब्दी कमजोर थी क्योंकि उस पर मध्ययुगीन अंधविश्वासों और क्रूरताओं का इतना प्रभाव था कि उस युग के इतिहासकारों के लिए मध्ययुगीन मानव की कल्पनात्मक समझ रखना संभव न था। 'थर्टी इयर्स वार' के बारे में बर्कहार्ड के इस तिरस्कारपूर्ण कथन को लें : 'किसी भी संप्रदाय के लिए चाहे वह कैथोलिक हो या प्रोटेस्टेंट अपनी मुक्ति को राष्ट्र की एकता के मुकाबले प्राथमिकता देना निंदनीय है।'[21] 19वीं शताब्दी के उदारवादी इतिहासकार के लिए उन लोगों की मानसिकता में प्रवेश करना बहुत कठिन है जिन्होंने 'थर्टी इयर्स वार' में हिस्सा लिया क्योंकि वह इस विश्वास को लेकर पले थे कि अपने देश की रक्षा के लिए मरना मारना प्रशंसनीय है जबकि अपने धर्म के लिए किसी की जान लेना दुष्टता और पागलपन का परिचायक है। जिस क्षेत्र में मैं अभी काम कर रहा हूं उसमें यह कठिनाई खास तौर से आती है। अंगरेजी भाषा भाषी देशों में पिछले दस सालों में सोवियत संघ के बारे में जो कुछ लिखा गया है और सोवियत संघ ने अंगरेजी भाषा भाषी देशों के बारे में जो कुछ लिखा गया है वह उनकी इस असमर्थता का परिचय देता है कि उनके पास कल्पनात्मक समझ की मात्रा एकदम नहीं है। उनकी समझ में इसीलिए यह नहीं आता कि दूसरे पक्ष का मस्तिष्क कैसे काम कर रहा है। यही कारण है कि उन्हें दूसरे पक्ष के कार्य और मंतव्य निहायत अर्थहीन, दोषपूर्ण और पाखंडपूर्ण लगते हैं। जब तक इतिहासकार उन लोगों के मस्तिष्क के साथ संप्रेषण नहीं स्थापित कर लेता जिन लोगों के बारे में वह लिख रहा है तब तक वह इतिहास नहीं लिख सकता।

तीसरा मुद्दा यह है कि हम केवल वर्तमान की आंखों से ही अतीत को देख समझ सकते हैं। इतिहासकार अपने युग के साथ अपने मानवीय अस्तित्व की शर्तों पर जुड़ा होता है। यहां तक कि प्रजातंत्र, साम्राज्य, युद्ध और क्रांति आदि शब्द भी अपनी एक तात्कालिक ध्वनि रखते हैं, इन तात्कालिक ध्वनियों से इतिहासकार उन्हें मुक्त नहीं कर सकता। प्राचीन युग के इतिहासकारों ने 'पोलिस' और 'प्लेब्स' जैसे शब्दों का प्रयोग मूल अर्थ में करना शुरू कर दिया है। ऐसा वह यह दिखाने के लिए कर रहे हैं कि वे इस जाल में नहीं फंसे। इसका कोई लाभ नहीं। वे भी वर्तमान में रहते हैं और पुराने तथा अपरिचित शब्दों का प्रयोग करके अतीत में जाने का धोखा वे नहीं खड़ा कर सकते। ठीक उसी तरह जैसे 'क्लैमिस' पहन कर भाषण देने से वे बेहतर यूनानी इतिहासकार और 'टोगा' पहन कर भाषण देने से बेहतर रोमन इतिहासकार नहीं बन सकते। पेरिस की भीड़ को जिसने फ्रांसीसी क्रांति में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी फ्रांसीसी इतिहासकारों ने ले सां क्यूलोत, ले पप्ल, ला कनाइ, ले भा म्यू (जनता के अर्थ में) आदि नामों से पुकारा है। उन लोगों के लिए जो इस खेल को समझते हैं ये नाम एक खास राजनीतिक

लगाव और एक विशेष व्याख्या के प्रमाण हैं। इतिहासकार चुनाव करने को बाध्य है। वह तटस्थ नहीं हो सकता क्योंकि भाषा का प्रयोग उसमें बाधक है। बात सिर्फ शब्दों की ही नहीं है। पिछले सौ सालों में यूरोप के शक्ति संतुलन में जो बदलाव आया है उससे फ्रेडरिक महान के प्रति ब्रिटिश इतिहासकारों के रुख ने पलटा खाया है। ईसाई चर्च के अंतर्गत कैथोलिकवाद और प्रोटेस्टेंटवाद के बीच शक्ति संतुलन का जो बदलाव आया है उससे लोयोला, लूथर और क्रामवेल जैसे व्यक्तित्वों के बारे में भी उनके रुख में परिवर्तन आया है। पिछले चालीस सालों में फ्रांसीसी इतिहासकारों द्वारा लिखी इतिहास की कृतियों का साधारण अध्ययन करने से भी यह पता चल जाता है कि 1917 की रूसी क्रांति ने उनके दृष्टिकोणों को कितना प्रभावित किया है। इतिहासकार अतीत में नहीं जीता। वह वर्तमान में जीता है। प्रो० ट्रेवर रोपर का कथन है कि इतिहासकार को 'अतीत से प्यार करना चाहिए।'[22] यह एक अस्पष्ट वक्तव्य है। अतीत से प्यार करने को आसानी से बूढ़े लोगों और पुराने समाजों का अतीत के प्रति रोमानी मोह भी माना जा सकता है। इसका अर्थ यह भी लगाया जा सकता है कि अतीत से प्यार करना वर्तमान और भविष्य में दिलचस्पी और विश्वास की कमी का परिचायक है।[23] इस सूक्ति के स्थान पर मैं एक दूसरी सूक्ति को तरजीह दूंगा जिसमें कहा गया है कि आदमी को 'अतीत के बेजान हाथों से' खुद को छुड़ा लेना चाहिए। इतिहासकार का काम न तो अतीत को प्यार करना है और न खुद को अतीत से मुक्त करना बल्कि वर्तमान को समझने के लिए उसे अतीत के अध्ययन में दक्षता प्राप्त करनी चाहिए और अपनी समझ की वर्तमान की कुंजी के रूप में इस्तेमाल करना चाहिए।

बहरलाल, जिसे मैं इतिहास का कालिंगवुडीय दृष्टिकोण कहना चाहूंगा उसकी अगर उपरोक्त अंतर्दृष्टियां हैं तो उनके कुछ खतरों का जायजा लेने का वक्त आ गया है। इतिहास के निर्माण में इतिहासकार की भूमिका है पूर्ण रूप से किसी भी वस्तुपरक इतिहास को नकार देना। यही उसका तार्किक परिणाम है। इतिहास वही है जो इतिहासकार बनाता है। अपने एक अप्रकाशित नोट में, जिसका उद्धरण उसके संपादक ने दिया था, कालिंगवुड एक समय इसी नतीजे पर पहुंचा था :

> सेंट आगस्टीन आदिकालीन ईसाइयत की दृष्टि से इतिहास को देखते थे। टिलामांट 17वीं शताब्दी के फ्रांसीसी की दृष्टि से; गिबन 18वीं शताब्दी के अंग्रेज की दृष्टि से और मामसेन 19वीं शताब्दी के जर्मन की दृष्टि से इतिहास को देखते थे। यह पूछने का कोई फायदा नहीं कि इनमें से किसका दृष्टिकोण सही था। इनमें से हर एक दृष्टिकोण उस इतिहासकार के लिए एकमात्र संभव दृष्टिकोण था।[24]

यह वक्तव्य पूर्णतया संशयवादी है जैसाकि फ्रायड का यह वक्तव्य है कि इतिहास, 'किसी बच्चे के खिलौने वाले अक्षरों की तरह होता है जिसकी मदद से हम जो शब्द चाहें वही लिख सकते हैं।'[25] 'कैंची और गोंद' से तैयार किए गए इतिहास के विरोध में अर्थात इतिहास तथ्यों का संकलन होता है इस दृष्टिकोण के विरोध में कालिंगवुड के विचार इस विचार के काफी नजदीक आ जाते हैं कि इतिहास मानव मस्तिष्क के ताने-बाने से बुना जाता है। इससे हम प्रायः उन्हीं निष्कर्षों पर पहुंचते हैं जिन्हें सर जार्ज क्लार्क ने हमारे सामने रखा था और जिसे मैं पहले उद्धृत कर चुका हूं कि वस्तुपरक ऐतिहासिक सत्य जैसी कोई चीज नहीं होती। इतिहास का कोई अर्थ नहीं होता इस सिद्धांत के बदले में हमें यह सिद्धांत दिया जाता है कि इतिहास के अनगिनत अर्थ होते हैं और उनमें से कोई भी दूसरे से ज्यादा सही नहीं होता, इस सिद्धांत के भी वही निष्कर्ष निकलते हैं। यह दूसरा सिद्धांत भी पहले के समान ही समर्थन योग्य नहीं है। यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि चूंकि भिन्न भिन्न कोणों से एक पहाड़ की शक्ल भिन्न दिखाई देती है इसलिए इसका कोई वास्तविक रूप नहीं है या इसके अनंत रूप हैं। इसी प्रकार इतिहास के तथ्यों को स्थापित करने के लिए व्याख्याएं चूंकि एक आवश्यक भूमिका अदा करती हैं और चूंकि कोई भी वर्तमान व्याख्या पूर्णतया वस्तुपरक नहीं है, एक व्याख्या दूसरी जैसी ही है तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि सिद्धांत रूप में ऐति-हासिक तथ्यों की वस्तुपरक व्याख्या हो ही नहीं सकती। इतिहास में वस्तुपरकता का सही अर्थ क्या है इस प्रश्न को मैं बाद में उठाऊंगा।

मगर कालिंगवुड की परिकल्पना में एक और बड़ा खतरा दिखाई देता है। अगर इतिहासकार जिस किसी काल का लेता है उसे आवश्यक रूप से अपने समय की आंखों से देखता है और अतीत की समस्याओं का अध्ययन वर्तमान समस्याओं की कुंजी के रूप में करता है तो क्या तथ्यों के उपयोगितावादी दृष्टिकोण का शिकार नहीं हो जाता? जब वह कहता है कि वर्तमान के लिए उपयोगी व्याख्या ही सही व्याख्या का मानदंड है तब क्या उसका दृष्टिकोण उपयोगितावादी नहीं हो जाता? इस परिकल्पना के अनुसार इतिहास के तथ्य कुछ नहीं हैं केवल व्याख्या ही सब कुछ है। नीत्शे ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन पहले ही कर दिया था: 'किसी मंतव्य के गलत होने से हमें कोई शिकायत नहीं है···प्रश्न यह है कि वह मंतव्य जीवन को कितना आगे बढ़ाता है, कितनी उसकी रक्षा करता है और जीवरक्षण तथा जीवनिर्माण में कितना सहायक होता है।[26] अमरीकी उपयोगितावादी इसी दिशा में बढ़ते हैं मगर कम स्पष्टता और कम ताकत के साथ। ज्ञान, तभी ज्ञान है जब उसका कोई उद्देश्य हो। ज्ञान की यथातथ्यता उद्देश्य की यथार्थता पर निर्भर करती है। मगर जहां इस तरह के सिद्धांत की बात नहीं की गई है वहां भी व्यव-हार में इससे अलग कोई चीज नहीं होती। हमने अपने अध्ययन के क्षेत्र में तथ्यों

को उल्टा सीधा इस्तेमाल करने और बेहद ऊलजलूल व्याख्याओं के प्रस्तुत किए जाने के उदाहरण देखे हैं। आश्चर्य नहीं कि सोवियत तथा सोवियत विरोधी इतिहासकारों द्वारा प्रस्तुत पुस्तकें पढ़ने के बाद पाठक को 19वीं शताब्दी के तथ्याश्रयी इतिहास लेखन के प्रति आकर्षण पैदा हो जाए।

तो फिर 20वीं शताब्दी के मध्य में हम तथ्यों के प्रति इतिहास के दायित्व का निर्धारण कैसे करें। मेरा विश्वास है कि पिछले कई सालों में मैंने अपना काफी वक्त दस्तावेजों का पता लगाने और उनका अध्ययन करने में बिताया है। मैंने अपने ऐतिहासिक इतिवृत्त को उचित पादटिप्पणी देते हुए अनगिनत तथ्यों से भर दिया है इसलिए मैं समझता हूं दस्तावेजों को गंभीरता से न लेने का आरोप मुझ पर नहीं लगाया जा सकता। तथ्यों को सम्मान देने का इतिहासकार का दायित्व केवल इस बात से पूरा नहीं हो जाता कि उसके तथ्य सटीक हैं। वह जिस विषय पर काम कर रहा है और उसकी जो व्याख्या वह प्रस्तुत करना चाहता है उससे संबद्ध ज्ञात अथवा ज्ञातव्य सभी तथ्यों को (जो किसी न किसी रूप में तस्वीर को पूरा करने के लिए जरूरी हैं) सामने रखना चाहिए। अगर वह विक्टोरिया युगीन अंग्रेज को एक सदाचारी तथा बुद्धिमान व्यक्ति के रूप में चित्रित करना चाहता है तो उसे स्टैलीब्रिज वेक्स में 1850 में जो घटना घटी थी उसे भूलना नहीं चाहिए। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वह व्याख्याओं की उपेक्षा कर दे। व्याख्याएं वस्तुत: इतिहास को जीवन देने वाले रक्त के समान होती हैं। सामान्य लोग यानी हमारे वे मित्र जो शास्त्रीयता से अनभिज्ञ हैं या दूसरी शास्त्रीय विधाओं से संबंधित हैं, कभी कभी मुझसे पूछते हैं कि इतिहास लेखन करते समय इतिहासकार किस प्रक्रिया से गुजरता है। सर्वाधिक सामान्य धारणा यह है कि इतिहासकार अपने काम को दो स्पष्ट भागों या कालों में विभाजित करता है। पहले आरंभिक काल में वह मूल स्रोतों का अध्ययन करने और तथ्यों से नोटबुक भरने में काफी वक्त गुजारता है, ऐसा कर चुकने के बाद वह अपने स्रोतों को परे कर देता है। अपनी नोटबुक उठाता है और शुरू से आखिर तक किताब लिख डालता है। मुझे इतिहास लेखन की यह तस्वीर अस्पष्ट और अविश्वसनीय लगती है। जहां तक मेरा सवाल है ज्यों ही मैं अपने विषय से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण और मूल स्रोत माने जाने वाले ग्रंथों और दस्तवेजों का अध्ययन कर लेता हूं मेरी उंगलियों में इतनी तेज खुजली होने लगती है कि मैं लिखना शुरू कर देता हूं। जरूरी नहीं है कि मैं विषय के आरंभ को ही लिखूं। बीच से या कहीं से भी शुरू कर देता हूं। उसके बाद पढ़ना और लिखना एक साथ चलता रहता है। ज्यों ज्यों मेरा अध्ययन आगे बढ़ता है त्यों त्यों मेरे लेखन में जोड़ना, घटाना और रद्द करना चलता रहता है। लिखने से मेरी पढ़ाई को सही दिशा मिलती है और वह ज्यादा सफल होती है। मैं जितना ही लिखता हूं उतना ही मुझे ज्ञात होता है कि मेरी तलाश क्या है

और मैं जो कुछ पाता हूं उसके महत्व तथा विषय से उसके संबंध को समझने में ज्यादा सफल होता हूं। कुछ इतिहासकार बिना कलम, कागज और टाइपराइटर की सहायता के यह आरंभिक लिखाई अपने दिमाग में कर लेते हैं जैसे कुछ शतरंज के खिलाड़ी बिना मोहरों और बोर्ड के अपने दिमाग में ही पूरा खेल उतार लेते हैं।

यह एक ऐसी प्रतिभा है जिससे मुझे ईर्ष्या जरूर है मगर जिसे मैं अपने भीतर नहीं पाता। मगर मैं इस बारे में निश्चित हूं कि किसी भी महत्वपूर्ण इतिहासकार के लिए यह प्रक्रिया जिसे अर्थशास्त्री 'आदान-प्रदान' कहते हैं, एक साथ चलती रहती है और व्यवहार में यह एक ही प्रक्रिया के दो भाग हैं। अगर आप उसे अलग करने की कोशिश करें या एक पर दूसरे को प्राथमिकता दें तो आप इतिहास-लेखन के दोनों पाखंडों में से किसी एक के शिकार हो जाएंगे। या तो आप कैंची और गोंद के सहारे लिखा जाने वाला अर्थहीन या महत्वहीन इतिहास लिखेंगे अथवा प्रचार या ऐतिहासिक उपन्यास का निर्माण करेंगे, अतीत के तथ्यों की बुनावट के सहारे एक ऐसा लेखन करेंगे जिसका इतिहास से कुछ लेना देना नहीं है।

अतः जब हम इतिहास के तथ्यों के साथ इतिहासकार के संबंधों की परीक्षा करते हैं तो खुद को बड़ी कठिन स्थिति में पाते हैं। हम इतिहास को वस्तुगत अर्थों का संकलन मानने, व्याख्या के मुकाबले तथ्यों को प्राथमिकता देने के एक ध्रुव पे इतिहास को इतिहासकार के मस्तिष्क की मनोगत उपज मानने के अप्रामाणिक सिद्धांत, जिसके अनुसार इतिहासकार इतिहास के तथ्यों को स्थापित करता है और व्याख्या की प्रक्रिया द्वारा उन पर प्रभुत्व स्थापित करता है, के दूसरे ध्रुव के बीच झूलते रहते हैं। इतिहास को देखने के इन दोनों दृष्टिकोणों में मुख्य अंतर यह है कि एक में गुरुत्वाकर्षण केंद्र अतीत में स्थित होता है जबकि दूसरे में वर्तमान में। लेकिन हमारी स्थिति उतनी कठिन नहीं है जितनी मालूम पड़ती है। इन भाषणों में हम तथ्य और व्याख्या के इस दोहरेपन का सामना करेंगे भले ही उनका रूप भिन्न होगा जैसे विशिष्ट और सामान्य, अनुभूत तथा सैद्धांतिक, वस्तुगत तथा मनोगत। मानव स्वभाव का प्रतिबिंब ही इतिहासकार की कठिनाई बनता है। सभवतः अपनी आरंभिक अवस्था और प्राचीनतम युग के अलावा मनुष्य कभी अपने परिवेश में पूर्णरूप से लीन नहीं हुआ, न ही वह उसका बिला किसी शर्त के गुलाम बना। दूसरी ओर वह इससे पूर्णतया कभी मुक्त नहीं हो सका और न ही अपने परिवेश पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर सका। मनुष्य का अपने परिवेश के साथ जो संबंध है वही इतिहासकार का अपनी विषयवस्तु से है। इतिहासकार न तो अपने तथ्यों का बेदाम गुलाम होता है न ही उनका निरंकुश शासक। इतिहासकार का अपने तथ्यों के साथ बराबर का दर्जा होता है। जैसा प्रत्येक कार्यशील इतिहासकार जानता है : अगर वह सोचने और लिखने की प्रक्रिया के बीच रुककर महसूस करे कि वह अपने तथ्यों को व्याख्या के रूप में

ढालने और अपनी व्याख्या को तथ्यों के रूप में ढालने की एक अनवरत प्रक्रिया में लगा हुआ है। इनमें से किसी एक को प्राथमिकता देना असंभव है।

आरंभ में इतिहासकार तथ्यों का सामयिक तौर पर चुनाव करता है और उसकी एक सामयिक व्याख्या प्रस्तुत करता है जिसकी रोशनी में उसने तथा अन्य लोगों ने तथ्यों का चुनाव किया है। जैसे जैसे उसका काम आगे बढ़ता है वैसे वैसे ही तथ्यों की व्याख्या, चुनाव तथा वर्गीकरण में एक बहुत ही सूक्ष्म तथा संभवतः आंशिक, अचेतन परिवर्तन होता रहता है। इस पारस्परिक क्रिया में वर्तमान और अतीत की पारस्परिकता भी मिली होती है क्योंकि इतिहासकार वर्तमान का अंग होता है जबकि तथ्य अतीत के। इतिहासकार और इतिहास के तथ्य एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं। तथ्यों से विहीन इतिहासकार बिना जड़ का और व्यर्थ होता है। इतिहासकार के बिना तथ्य मृत और अर्थहीन होते हैं। अतः इतिहास क्या है, इस प्रश्न का मेरा पहला उत्तर यह होगा कि इतिहास, इतिहासकार और उसके तथ्यों की क्रिया-प्रतिक्रिया की एक अनवरत प्रक्रिया है, अतीत और वर्तमान के बीच एक अंतहीन संवाद है।

संदर्भ

1. 'दि कैंब्रिज माडर्न हिस्ट्री : इट्स ओरिजिन, ग्राथरशिप ऐंड प्रोडक्शन', (1907), पृ० 10-12.
2. 'दि न्यू कैंब्रिज माडर्न हिस्ट्री', i (1957), पृ० xxiv-xxv.
3. ऐक्टन : 'लेक्चर्स आन माडर्न हिस्ट्री', (1906), पृ० 318.
4. 'दि लिसनर' में उद्धृत, 19 जून 1952, पृ० 992.
5. 'एम. मानिलाइ एस्ट्रोनामिकाज : लाइबर प्राइमस', (द्वितीय संस्करण, 1937), पृ० 87.
6. टी. पार्सन्स और ई. शिल्स : 'टुग्रड्र्स जनरल थ्योरी ग्राफ ऐक्शन', (तृ० संस्करण, 1954), पृ० 167.
7. लार्ड जार्ज सैंगर : 'सेवेंटी इयर्स अ शोमैन', (द्वि० संस्करण, 1626), पृ० 188-189
8. डा० किट्सन क्लार्क : 'दि मेकिंग ग्राफ विक्टोरियन इंग्लैंड', 1962.
9. जे. बी. बरी : 'सेलेक्टेड एसेज', (1930), पृ० 52.
10. जी. बैरेकलो : 'हिस्ट्री इन अ चेंजिग वर्ल्ड', (1955), पृ० 14.
11. लेटन स्ट्रैची : 'प्रीफेस टू एमिनेंट विक्टोरियंस'.
12. देखिए, जी. पी. गूश : 'हिस्ट्री ऐंड हिस्टोरियंस इन दि नाइंटींथ सेंचुरी', पृ० 385; बाद में डूलिगर के बारे में ऐक्टन ने लिखा कि : 'मनुष्य जाति को प्राप्त सबसे बड़ी पूर्व पीठिका के आधार पर उन्हें अपना इतिहास दर्शन निर्धारित करने का अवसर मिला था' (हिस्ट्री आफ, फ्रीडम ऐंड अदर एसेज 1907), पृ० 435.
13. 'कैंब्रिज माडर्न हिस्ट्री', i (1902), पृ० 4.
14. 'गुस्ताव स्ट्रेसमान : 'हिज डायरीज, लेटर्स ऐंड पेपर्स', i (1935) एडिटर्स नोट.
15. एच. बटरफील्ड : 'दि व्हिग इंटरप्रेटेशन ग्राफ हिस्ट्री', (1931) पृ० 67.
16. ए. एल. रोसे : 'दि ऐंड ग्राफ एन इपोक', (1947), पृ० 282-83.

17. इस प्रसिद्ध सूक्ति का पूरा संदर्भ यों है : 'प्रत्येक ऐतिहासिक तथ्यनिर्णय के पीछे जो व्यावहारिक आवश्यकताएं होती हैं वे प्रत्येक इतिहास को 'समसामयिक इतिहास' का चरित्र प्रदान करती हैं, क्योंकि लिखी जानेवाली घटनाएं वर्तमान से चाहे जितनी दूरी पर हों वास्तव में इतिहास वर्तमान आवश्यकताओं और वर्तमान स्थितियों से ही संदर्भित होती हैं और उन्हीं में पहले की वे घटनाएं प्रतिध्वनित होती हैं' (बी. क्रोसे : 'हिस्ट्री एज दि स्टोरी आफ लिबर्टी' (अंगरेजी अनु०), 1941, पृ० 19).
18. 'अटलांटिक मंथली', अक्तूबर, 1910. पृ० 528.
19. एम० ओकशाट : 'एक्सपीरियंस एंड इट्स, मोड्स' (1933), पृ० 99.
20. जी. एम. ट्रेवेलान : 'एन आटोबायोग्राफी', (1949), पृ० 11.
21. जे. बर्कहार्ड : 'जजमेंट आन हिस्ट्री ऐंड हिस्टोरियंस', (1959), पृ० 179.
22. भूमिका, जे. बर्कहार्ड : 'जजमेंट आन हिस्ट्री ऐंड हिस्टोरियंस', (1959), पृ० 17.
23. इतिहास के संबंध में नीत्शे के विचारों से मिलाइए : 'ऐतिहासिक संस्कृति में यह बुजुर्गों का काम है कि वे अतीत में झांकें और उसका लेखा-जोखा करें, अतीत की स्मृतियों में अपने लिए तसल्ली ढूंढ़ें.' (थाट्स आउट आफ सीजन, अंगरेजी अनुवाद, 1909), पृ० 65-65.
24. आर. कालिंगवुड : 'दि आइडिया आफ हिस्ट्री', 1946, पृ० 12.
25. ए. फ्रायड : 'शार्ट स्टडीज आन ग्रेड सब्जेक्ट्स', 1894, पृ० 21.
26. 'बियांड गुड ऐंड इविल', अध्याय i.

2

समाज और व्यक्ति

सबसे पहला प्रश्न उठता है समाज या व्यक्ति में से कौन पहले है। यह प्रश्न ऐसा ही है जैसे मुर्गी पहले या अंडा। इसे आप ऐतिहासिक प्रश्न के रूप में लें या तार्किक। इसके पक्ष या विपक्ष में आप ऐसा कोई वक्तव्य नहीं दे सकते जो इसके विरोधी और समान रूप से एकपक्षीय वक्तव्य द्वारा सुधारा न जा सके। समाज और व्यक्ति अविभाज्य हैं; वे एक दूसरे के लिए आवश्यक तथा पूरक हैं, विरोधी नहीं। डान के शब्दों में: 'कोई भी व्यक्ति अपने आप में अलग-थलग द्वीप जैसा नहीं होता। हर व्यक्ति महाद्वीप का एक अंश, पूर्ण का एक अंग होता है।'[1] सत्य का एक पक्ष तो यह है, दूसरी ओर महान व्यक्तिवादी जे० एस० मिल के सिद्धांत को देखिए: 'समूहीकृत किए जाने पर मनुष्य किसी दूसरी वस्तु के रूप में परिवर्तित नहीं होते।'[2] बात ठीक है लेकिन इस तर्क में यह भ्रांति है कि इसे उपस्थित करने वाला यह मान लेता है कि 'समूहीकरण' के पूर्व व्यक्तियों का अस्तित्व था या कि वे एक विशेष प्रकार की वस्तु थे। ज्योंही हम जन्म लेते हैं संसार हमारे ऊपर प्रभाव डालने लगता है और हमें जैविक एकक (यूनिट) से सामाजिक एकक के रूप में परावर्तित कर देता है। प्रागैतिहासिक अथवा ऐतिहासिक काल के प्रत्येक स्तर पर हर मनुष्य एक समाज में जन्म लेता रहा है और अत्यंत आरंभिक काल से वह समाज द्वारा निर्मित किया जाता रहा है। जो भाषा वह बोलता है वह उसकी व्यक्तिगत विरासत नहीं होती बल्कि जिस समुदाय में पला बड़ा होता है उसकी सामाजिक देन होती है। भाषा तथा परिवेश दोनों ही उसके विचारों के चरित्र का निर्माण करने में सहायक होते हैं। उसकी आरंभिक धारणाएं उसे दूसरों से प्राप्त होती हैं। ठीक ही कहा गया है कि समाज से वियुक्त व्यक्ति गूंगा और मस्तिष्कहीन दोनों ही होगा। राबिंसन क्रूसो की दंतकथा का इतना दीर्घकालीन आकर्षण इस कारण है कि उसमें एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करने की कोशिश की गई है जो समाज से स्वतंत्र है। मगर यह कोशिश असफल हो जाती है। राबिंसन कोई अमूर्त व्यक्ति नहीं है बल्कि यार्क का अंगरेज है; वह अपनी बाइबिल साथ ले जाता है और अपने आदिम देवता की पूजा करता है। बहुत शीघ्र ही मिथक उसे 'मैन फ्रायडे'[3] नामक साथ दे देता है और एक नए समाज की रचना शुरू हो जाती है। दूसरा इसी तरह का मिथक दास्तोवस्की के 'डेविल्स' में किरिलोव की कहानी है जो पूर्ण स्वतंत्रता का प्रदर्शन करने के लिए आत्महत्या कर लेता है व्यक्ति के लिए पूर्णतया स्वतंत्र कार्य केवल आत्महत्या हो सकता है। दूसरे कार्यों में किसी न

किसी रूप में उसकी सामाजिक सदस्यता निहित रहती है।[4]

मानव विज्ञानियों की आम राय है कि आदिम मानव में सभ्य और सुसंस्कृत मानव की अपेक्षा व्यक्तिपरकता कम थी, उसका निर्माण अधिकांशत: समाज के द्वारा होता था। इस मान्यता में सच्चाई है। अधिक प्रगतिशील तथा संश्लिष्ट समाजों की अपेक्षा सहजतर समाजों का रूप अधिक सुगढ़ होता है क्योंकि उनमें अपेक्षाकृत व्यक्तिपरक दक्षता के लिए कम अवसर मिलते हैं और जीवन के आयाम अल्प होते हैं। इस प्रकार बढ़ता हुआ व्यक्तिवाद-अमानुषिक प्रगतिशील समाज का एक आवश्यक उत्पाद है और ऊपर से नीचे तक उसकी तमाम गतिविधियों पर छाया हुआ है किंतु इस व्यक्तिवादी प्रक्रिया और समाज की बढ़ती हुई शक्ति तथा संश्लिष्टता के बीच कोई व्यतिक्रम पैदा करना एक भारी भूल होगी। समाज और व्यक्ति के विकास साथ साथ होते हैं और वे एक दूसरे को बल देते हैं। दरअस्ल, संश्लिष्ट तथा प्रगतिशील समाज से हमारा मतलब उस समाज से होता है जिसमें व्यक्तियों की परस्पर निर्भरता ने एक संश्लिष्ट तथा उच्चतर आयाम प्राप्त कर लिया हो। यह मान लेना खतरनाक होगा कि आदिम कबीलों की तुलना में आधुनिक राष्ट्रीय जनसमूह की अपने व्यक्ति सदस्यों के विचारों तथा चरित्र के निर्माण की शक्ति कम होती है। जैविक विविधता के आधार पर राष्ट्रीय चरित्र निर्माण की पुरानी धारणा अब गलत सिद्ध हो चुकी है लेकिन इस तथ्य को नकारना कठिन है कि विभिन्न राष्ट्रीय चरित्रों का निर्माण उन विभिन्न समाजों की राष्ट्रीय पृष्ठभूमि तथा शिक्षा के आधार पर होता है। 'मानव प्रकृति' नामक निरंतर परिवर्तनशील अवधारणा एक देश से दूसरे देश तक और एक शताब्दी से दूसरी शताब्दी तक इतनी वैविध्यपूर्ण रही है कि इसे एक ऐतिहासिक तथ्य न मानना कठिन है और इसका आधार हमेशा तत्कालीन सामाजिक स्थितियां और परंपराएं रही हैं। उदाहरणस्वरूप अमरीकियों, रूसियों और भारतीयों में कई वैषम्य हैं किंतु इन विषमताओं में से कुछ, और शायद सबसे महत्वपूर्ण, विषमताएं व्यक्तियों के बीच के सामाजिक संबंधों के प्रति उनकी अलग अलग दृष्टियों पर आधारित हैं। दूसरे शब्दों में समाज निर्माण के उन आधारभूत संबंधों को महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए जिनके आधार पर यदि अमरीकी, रूसी तथा भारतीय समाज का अध्ययन किया जाए तो हमें अमरीकी, रूसी तथा भारतीय व्यक्ति के आधारभूत वैषम्य का भी पता चल जाए। आदिम मनुष्य की भांति सभ्य मनुष्य का निर्माण समाज द्वारा उतने ही प्रभावी ढंग से होता है जितने प्रभावी ढंग से समाज का निर्माण व्यक्ति द्वारा होता है जैसे अंडे के बिना मुर्गी नहीं हो सकती उसी तरह मुर्गी के बिना अंडा नहीं होता।

ये तथ्य अपने आप में बहुत स्पष्ट हैं और इन पर चर्चा करना अनावश्यक होता अगर इतिहास के उस विशिष्ट तथा महत्वपूर्ण दौर ने, जिससे पश्चिमी

दुनिया बाहर आ रही है, इसे अस्पष्ट और संदिग्ध न बना दिया होता। व्यक्तिवादी संप्रदाय आधुनिक ऐतिहासिक चिंतनधारा का एक बहुप्रचारित 'मिथ' रहा है। बर्कहार्ड द्वारा लिखित 'सिविलाइजेशन आफ दि रिनेसां इन इटली' के दूसरे भाग 'दि डेवेलपमेंट आफ दि इंडिविज्युअल' में बताया गया है कि व्यक्तिवाद का जन्म रिनेसां (पुनर्जागरण) के समय से आरंभ हुआ। उस समय तक आदमी खुद को 'किसी जाति, संप्रदाय, दल, परिवार या निगम का सदस्य' मानता रहा है जबकि रिनेसां काल में उसने 'खुद को एक आध्यात्मिक व्यक्ति के रूप में पहचाना।' फ्रांसीसी क्रांति द्वारा उद्घोषित मानवीय तथा नागरिक अधिकार व्यक्ति के ही अधिकार थे। 19वीं शताब्दी के महान उपयोगितावादी दर्शन का आधार व्यक्तिवाद ही था। मार्ले का प्रसिद्ध निबंध 'आन कांप्रोमाइज' विक्टोरियाकालीन उदारतावाद का अच्छा उदाहरण है। उस निबंध के अनुसार व्यक्तिवाद और उपयोगितावाद 'आदमी की खुशी और कल्याण के धर्म हैं।' 'दुर्धर्ष व्यक्तिवाद' मानव विकास की कुंजी थी। एक विशेष ऐतिहासिक युग के सिद्धांत की यह पूर्णतया ठोस तथा युक्तियुक्त व्याख्या हो सकती है। लेकिन मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूं कि आधुनिक विश्व के विकास के साथ बढ़ती हुई व्यक्तिवादिता विकासमान मानवीय संस्कृति की एक सहज प्रक्रिया थी। एक सामाजिक क्रांति ने नए सामाजिक समूहों को शक्ति के केंद्रों में स्थापित किया। हमेशा की तरह व्यक्तियों के माध्यम से और व्यक्तिगत विकास के अधिकाधिक अवसर देकर यह सक्रिय हुआ। और चूंकि पूंजीवादी विकास के आरंभिक चरण में उत्पादन और वितरण के एकक अधिकांशत: अकेले व्यक्तियों के हाथ में थे इसलिए नई समाज व्यवस्था में व्यक्तिगत पहल की भूमिका पर अधिकाधिक जोर दिया गया। किंतु यह समूची प्रक्रिया ऐतिहासिक विकास के एक खास दौर की सामाजिक प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करती थी। इसकी यह व्याख्या नहीं हो सकती कि यह समाज के व्यक्ति का विद्रोह था या सामाजिक रूढ़ियों से व्यक्ति की मुक्ति थी।

इस बात के पर्याप्त संकेत मिल चुके हैं कि इस सिद्धांत के विकास केंद्र पश्चिमी दुनिया में भी, इतिहास का यह काल बीत चुका है। यहां इस बात पर बल देना मुझे अनावश्यक लगता है कि अब जनतंत्र का उदय हो चुका है अथवा आर्थिक उत्पादन और वितरण के प्रमुखत: व्यक्तिगत स्वामित्व का स्थान धीरे धीरे प्रमुखत: सामूहिक स्वामित्व ने ले लिया है किंतु पश्चिमी यूरोप में और अंगरेजी भाषाभाषी अन्य सभी देशों में इस लंबे और फलदायक इतिहास खंड ने जिस सिद्धांत को जन्म दिया वह अब भी एक प्रधान शक्ति बना हुआ है। जब हम स्वतंत्रता और समानता के तनाव पर अमूर्त शब्दावली में बात करते हैं अथवा व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय के तनाव पर अमूर्त शब्दावली में सोचते हैं तो हम यह भूल जाते हैं कि अमूर्त धारणाओं के बीच कोई संघर्ष संभव नहीं है। जो संघर्ष होते हैं वे

व्यक्ति तथा समाज के बीच नहीं होते बल्कि समाज के अंतर्गत रहने वाले व्यक्तियों के समूहों के बीच होते हैं। हर समूह अपने लिए लाभदायक और अपने पक्ष में पड़ने वाली कार्यपद्धति का समर्थन तथा अपने विपक्ष में जाने वाली कार्यपद्धति का विरोध करता है। व्यक्तिवाद अब एक महान सामाजिक आंदोलन के स्थान पर व्यक्ति और समाज के बीच का एक छद्म विरोध भर रह गया है। आज यह निहित स्वार्थों वाले एक समूह का नारा मात्र है और अपने ि वादास्पद चरित्र के कारण विश्व में जो कुछ घटित हो रहा है उसे समझने की हमारी कोशिशों में बाधा पहुंचाता है। जहां व्यक्तिवाद उस विकृति के विरोध में खड़ा होता है जिसके अनुसार व्यक्ति केवल एक साधन है और समाज या सरकार साध्य वहां मुझे इसके विरोध में कुछ नहीं कहना किंतु यदि हम समाज के बाहर स्थित किसी अमूर्त व्यक्ति की अवधारणा को स्वीकार करके आगे बढ़ना चाहें तो अतीत अथवा वर्तमान की सही समझ तक हम नहीं पहुंच सकते।

इस लंबे विषयांतर को अब हम यहां समाप्त करते हैं। इतिहास की सामान्य धारणा के अनुसार यह व्यक्तियों के बारे में व्यक्तियों द्वारा लिखित दस्तावेज होता है। 19वीं शताब्दी के उदारतावादी इतिहासकारों ने यह दृष्टिकोण अपनाया और इसे बढ़ावा दिया जोकि वस्तुतः गलत नहीं था लेकिन अब यह अति सरलीकृत और अपर्याप्त लगता है और हमें गहराई से इसकी जांच करने की जरूरत महसूस होती है। इतिहासकार का ज्ञान एकांत रूप से उसकी व्यक्तिगत संपत्ति नहीं होता। बहुत से देशों और बहुत सी पीढ़ियों के मानव ने इसको इकट्ठा करने में हाथ बंटाया है। इतिहास का मानव जिसके कार्यों का अध्ययन इतिहासकार करता है समाज से विच्छिन्न कोई अकेला व्यक्ति नहीं होता और न ही उसके कार्यव्यापार शून्य में घटित होते हैं। उन सभी मानवों ने, जिनके कार्यों का अध्ययन इतिहासकार करता है, एक विगत समाज के संदर्भ में तथा प्रेरणा से अपने कार्य किए थे। मैंने अपने पिछले भाषण में इतिहास को क्रिया प्रतिक्रिया की प्रक्रिया बताया था, अतीत के तथ्यों के साथ वर्तमान में स्थित इतिहासकार का संवाद कहा था। अब मैं इस समीकरण के उभयपक्ष अर्थात व्यक्ति तथा सामाजिक तत्वों के पारस्परिक महत्व की जांच करूंगा। इतिहासकार किस सीमा तक अकेले व्यक्ति मात्र होते हैं और किस सीमा तक अपने समाज और युग की उपज होते हैं? किस सीमा तक ऐतिहासिक तथ्य व्यक्तिमात्र से संबंधित तथ्य होते हैं और किस सीमा तक सामाजिक तथ्य?

इतिहासकार इस तरह एक व्यक्ति प्राणी है। अन्य व्यक्तियों की तरह वह भी एक सामाजिक रूपाकार है। वह एक साथ ही जिस समाज में रहता है उसका उत्पाद तथा उसका चेतन अवचेतन प्रवक्ता दोनों ही होता है। अपनी इसी योग्यता तथा क्षमता के आधार पर वह ऐतिहासिक अतीत की परीक्षा के लिए आगे बढ़ता

है। हम कभी कभी इतिहास की यात्रा को एक 'गतिमान जुलूस' कहते हैं। यह मुहावरा काफी मौजूं है बशर्ते इतिहासकार खुद को उस चील की तरह न समझ ले जो बहुत ऊंचाई से अपने चारों ओर के दृश्य का मुआइना करती है या खुद को उस 'वी० आई० पी०' की जगह न रख ले जो खड़ा होकर सलामी लेता है। इतिहासकार ऐसा कुछ नहीं होता। वह इतिहास के उस गतिशील जुलूस के किसी दूसरे भाग में कठिन यात्रा करता एक धुंधली आकृति होता है। जैसे जैसे जुलूस कभी बाएं घूमता, कभी दाएं घूमता, कभी पीछे लौटता, दुहरा होता आगे गढ़ता है वैसे वैसे उसके अलग अलग हिस्सों की पारस्परिक स्थिति लगातार बदलती रहती है और ऐसा कहना काफी हद तक सही होगा कि आज हम एक शताब्दी पूर्व के अपने पूर्वजों की अपेक्षा मध्य युग के ज्यादा निकट हैं अथवा दांते के युग की अपेक्षा सीजर का युग हमारे अधिक निकट है। नए परिदृश्य, दृष्टि के नए कोण सामने लगातार आते जाते हैं ज्यों ज्यों जुलूस और उसके साथ इतिहासकार, आगे बढ़ता जाता है। इतिहासकार इतिहास का ही एक हिस्सा है। जुलूस का वह कोण जहां, इतिहासकार चलता होता है, अतीत के प्रति उसकी दृष्टिभंगी का निर्णायक होता है।

यह स्वतःसिद्ध सत्य उस समय भी कम सच नहीं होता जब इतिहासकार अपने समय से काफी दूर के युग को लिखता है। जब मैं प्राचीन इतिहास का अध्ययन कर रहा था उस समय उस विषय के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ थे : ग्रोटे द्वारा लिखित 'हिस्ट्री आफ ग्रीस' और मामसेन द्वारा लिखित 'हिस्ट्री आफ रोम', शायद आज भी उस विषय पर ये ग्रंथ सर्वोत्कृष्ट हैं। ग्रोटे ने, जो कि एक प्रबुद्ध तथा उग्र सुधारवादी बेंकर था और 1840 के आसपास लिख रहा था, राजनीतिक रूप से प्रगतिशील अंग्रेज मध्यवर्ग की उभरती हुई महत्वाकांक्षाओं को एथेंस के जनतंत्र की तस्वीर में मूर्त करने का प्रयास किया था। इस पुस्तक में 'पैरिकिलस' का चित्रण एक 'बेंथ-माइट' (बेंथम) सुधारक के रूप में हुआ था और एथेंस जैसे मानसिक निष्क्रियता के आवेश में एक साम्राज्य का विस्तार पा गया था। यहां इस बात की ओर संकेत करना अधिक अनुचित न होगा कि ग्रोटे ने अपनी पुस्तक में एथेंस में गुलामी की समस्या के प्रति अवहेलना का जो रुख अपनाया था उसका कारण यह था कि ग्रोटे जिस वर्ग का सदस्य था वह ब्रिटेन की नई फैक्टरियों में काम करने वाले मजदूरों की समस्याओं का कोई हल नहीं ढूंढ़ पा रहा था। मामसेन एक उदार जर्मन था जो 1848-49 की जर्मन क्रांति की विरूपता और अपमानों का सामना करने के पश्चात काफी कटु हो चुका था और जर्मन जातीय श्रेष्ठता का उसका मोह भंग हो चुका था। 1850 में जब वह अपना इतिहास लिख रहा था, जर्मनी में 'रियल पालिटिक' की अवधारणा तथा सिद्धांत का जन्म हो चुका था। मामसेन के मन में यह धारणा बद्धमूल हो चुकी थी कि अपनी राजनीतिक महत्वकांक्षाओं को पूर्ण करने

में जर्मनी की जनता की असफलता से देश में जिस दुरवस्था तथा अव्यवस्था का जन्म हुआ है उसकी सफाई करने के लिए किसी सशक्त व्यक्ति की आवश्यकता है। और इस तरह हम उसके इतिहास का ठीक ठीक मूल्यांकन तब तक नहीं कर सकते जब तक हम उसके द्वारा चित्रित सीजर के आदर्शवादी चरित्र के पीछे जर्मनी को विनाश से बचाने के लिए एक सबल व्यक्तित्व की उसकी प्रबल कामना को दृष्टि में नहीं रखते। हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि उन्हीं दिनों (1848) प्रभावहीन वक्तव्य देने वाला और दीर्घसूत्री वकील राजनीतिज्ञ सिसेरो पालिकिर्च, फ्रैंकफुर्ट में चलने वाली राजनीतिक वार्ता को बीच में ही छोड़कर अलग हो गया था। सचमुच यह कोई निम्नकोटि का विरोधाभास नहीं है। अगर कोई कहे कि ग्रोटे द्वारा लिखित 'हिस्ट्री आफ ग्रीस' में 1840 के आसपास के अंगरेज दार्शनिक सुधारवादियों के विचारों का उसी मात्रा में परिचय मिलता है जिस मात्रा से ई० पू० 5वीं शताब्दी के एथेंस के जनतंत्र के बारे में या कोई दूसरा व्यक्ति जर्मन उदारवादियों पर 1848 की घटना का क्या प्रभाव पड़ता था इसे जानने के लिए मामसेन द्वारा लिखित 'हिस्ट्री आफ रोम' को अपनी पाठ्य पुस्तक बनाए तो हमें इसमें कोई विरोधाभास नहीं दिखेगा, न ही उन महान ऐतिहासिक कृतियों का कोई अवमूल्यन ही होगा। जैसा बरी ने अपने उद्घाटन भाषण में बताया और अब जो एक फैशन बन गया है कि इतिहासकार के रूप में मामसेन की महानता का श्रेय 'हिस्ट्री आफ रोम' के बदले रोम के सांविधानिक कानून संबंधी उसकी कृति और उसके द्वारा एकत्रित अभिलेखों के एक बड़े ढेर पर आधारित है। मुझे यह बात असह्य लगती है क्योंकि इस तरह हम इतिहास को तथ्य संग्रह के स्तर तक नीचे उतार देते हैं। महान इतिहास तभी लिखा जाता है जब इतिहासकार की अतीत दृष्टि समकालीन समस्याओं की अंतर्दृष्टि द्वारा प्रकाशित हो उठती है। अकसर इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया गया है कि मामसेन गणतंत्र के पतन के बाद रोम का इतिहास नहीं लिख सका यद्यपि उसके पास न समय की कमी थी, न अवसर की और न ही ज्ञान की। इसका वास्तविक कारण यह था कि उस समय तक जर्मनी में सशक्त व्यक्ति का उदय नहीं हुआ था। इसलिए मामसेन को इस बात की प्रेरणा नहीं मिली कि इस समस्या को वह रोमन परिदृश्य में स्थानांतरित कर सके और इसीलिए रोमन साम्राज्य का इतिहास अपूर्ण रह गया।

आधुनिक इतिहासकारों में इस तरह के उदाहरण ढूंढ़ना असंभव है। अपने पिछले भाषण में मैंने जी० ए० ट्रैवेलान द्वारा लिखित 'इंग्लैंड अंडर क्वीन ऐन' की प्रशंसा करते हुए कहा था कि वह पुस्तक लेखक द्वारा ह्विग परंपरा के प्रति सम्मान देने के लिए निर्मित एक स्मारक है। ट्रैवेलान का पालन पोषण उसी परंपरा में हुआ था। आइए हम अब प्रथम विश्वयुद्ध परवर्ती ब्रिटेन के शैक्षिक [illegible] चमकने वाले [illegible] इतिहासकार सर लेविल नेमिएर की

महान तथा महत्वपूर्ण उपलब्धियों की चर्चा करें। नेमिएर एक सच्चा 'कंजर्वेटिव' था, उस तरह का साधारण कंजर्वेटिव नहीं जिसकी एक पर्त उघाड़ी जाए तो वह पचहत्तर प्रतिशत लिबरल दिखाई दे। नेमिएर ऐसा कंजरवेटिव था जिसके मुकाबले का दूसरा अंगरेज इतिहासकार पिछले शताधिक वर्षों में नहीं हुआ। गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध से 1914 तक किसी भी अंगरेज इतिहासकार के लिए यह मानना संभव नहीं हुआ कि इस दौरान हुए ऐतिहासिक परिवर्तन को बेहतरी के अलावा भी कुछ माना जा सकता है। 1920 के बाद के वर्षों में हम एक ऐसे युग में प्रविष्ट होते हैं जिसमें परिवर्तन को 'भविष्य के प्रति आशंका' से जोड़ा जाने लगा था। इसे बदतरी के लिए परिवर्तन माना जा सकता था और यह वही युग था जब कंजर्वेटिव विचारधारा का जन्म हो रहा था। ऐक्टन के उदारतावाद की तरह नेमिएर का अनुदारतावाद भी इसीलिए सबल और पूर्ण था कि इसकी जड़ें महाद्वीपीय पृष्ठभूमि में थीं।[5] फिशर और ट्वायन्बी की तरह नेमिएर की जड़ें भी 19वीं शताब्दी के उदारतावाद में नहीं थीं और न ही उसे इसका कोई गहरा पछतावा ही था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद शांति प्रयासों की व्यर्थता ने अनुदारतावाद का खोखलापन प्रकट कर दिया था। इसकी प्रतिक्रिया या तो समाजवाद के रूप में प्रकट होती या अनुदारतावाद के रूप में। नेमिएर अनुदारतावादी इतिहासकार के रूप में सामने आया। उसने अपने लिए दो क्षेत्र चुने और ये दोनों चुनाव अपने आप में अर्थपूर्ण थे। वह इंग्लैंड के इतिहास के उस अंतिम युग की ओर वापस मुड़ा जिसमें एक स्थिर और व्यवस्थित समाज के अंतर्गत शासक वर्ग पद और शक्ति प्राप्त करने के विवेकपूर्ण उद्यम में लगा हुआ था। किसी ने नेमिएर के ऊपर आरोप लगाया है कि उसने इतिहास में से बुद्धि को बाहर कर दिया।[6] यह मुहावरा सुरुचिपूर्ण नहीं है लेकिन आलोचक जो बात कहना चाहता है उसमें स्पष्टता है। जार्ज तृतीय के सत्तारूढ़ होने तक राजनीति में विचारों का कट्टरपन नहीं आया था और फ्रांसीसी क्रांति के बाद आनेवाली पूरी शताब्दी में प्रगति के प्रति जो आवेशपूर्ण विश्वास और विजयपूर्ण उदारतावाद प्रकट हुआ था उसका भी आरंभ नहीं हुआ था। नेमिएर ने इन सभी खतरों से बचे हुए एक युग का बेहतरीन चित्र प्रस्तुत किया हालांकि इन खतरों से ज्यादा देर तक बचे रहना संभव न था।

किंतु नेमिएर के दूसरे विषय का चुनाव भी समान रूप से महत्वपूर्ण था। नेमिएर ने महान आधुनिक अंगरेजी, फ्रांसीसी तथा रूसी क्रांतियों में से किसी पर भी कुछ खास नहीं लिखा। उनसे कतराकर उसने अपने अध्ययन के लिए 1848 की यूरोप की क्रांति का चुनाव किया और उसका सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया। यह एक असफल क्रांति थी जिसने यूरोप में उभरती हुई उदारतावाद की ऊंची आशाओं पर पानी फेर दिया था और सैन्य बल के सामने विचारों के खोखलेपन को प्रदर्शित

किया था। इसने दिखाया था कि संगीनों के सामने प्रजातंत्रवादी कितना बेचारा लगता है। राजनीति के गंभीर दांवपेंच में विचारों की घुसपैठ व्यर्थ और खतरनाक होती है; इस अपमानजनक असफलता को 'बुद्धिजीवियों की क्रांति' कहकर नेमिएर ने इसमें से उपरोक्त आप्तवाक्य निकाला। यद्यपि नेमिएर ने व्यवस्थित रूप से इतिहास दर्शन पर कुछ नहीं लिखा लेकिन हम व्यर्थ हस्तक्षेप के लिए ही अपने निष्कर्षों को सामने नहीं रख रहे हैं। कुछ साल पहले छपे अपने एक निबंध में नेमिएर ने अपनी स्वाभाविक स्पष्टता तथा तीक्ष्णता के साथ इस संबंध में अपने विचार प्रकट किए। उसने लिखा : 'राजनीतिक उपदेशों तथा विचारधाराओं से मनुष्य अपने मस्तिष्क के स्वतंत्र संचालन को जितना ही कम बाधित करे उतना ही यह उसके चिंतन के लिए अच्छा है।' और अपने ऊपर लगाए गए इस आरोप, कि उसने इतिहास में से मस्तिष्क को निकाल फेंका है, का हवाला देते हुए, उसे अस्वीकार (रिजेक्ट) न करते हुए वह आगे लिखता है :

> कुछ राजनीतिक दार्शनिक शिकायत करते हैं कि आजकल इस देश में सामान्य राजनीति पर तर्क-वितर्क की कमी दिखाई देती है और इसे वे एक 'थकी हारी चुप्पी' का नाम देते हैं; विपक्षी दल कार्यक्रमों और आदर्शों को भुलाकर ठोस समस्याओं का व्यावहारिक समाधान ढूंढ़ रहे हैं। किंतु मुझे यह दृष्टि-कोण बढ़ी हुई राष्ट्रीय परिपक्वता का ही सूचक लगता है। मैं कामना करता हूं कि यह स्थिति राजनीति दर्शन द्वारा बिना विशृंखल हुए काफी दिनों तक चलती रहे।[7]

अभी मैं उपरोक्त अभिमत पर तर्क-वितर्क नहीं करूंगा, इसे मैं अपने किसी आगामी भाषण के लिए छोड़ देता हूं। यहां मेरा उद्देश्य दो महत्वपूर्ण सच्चाइयों को प्रदर्शित करना है : पहली, आप इतिहासकार की कृति को तब तक नहीं समझ सकते जब तक कि आप उसके दृष्टिकोण को न समझ लें जिसके द्वारा उसने इति-हास का अध्ययन किया है; दूसरी, इतिहासकार के उस दृष्टिकोण की जड़ें उसकी ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि में होती हैं। जैसा कि मार्क्स ने एक बार कहा था, 'आप यह मत भूलिए कि प्रशिक्षित को भी प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, आधुनिक शब्दावली में 'ब्रेनवाश' करने वाले की 'ब्रेनवाशिंग' पहले ही हो चुकी होती है (जो लोग व्यवस्थित रूप से दूसरों की विचारधाराओं में आमूल परिवर्तन लाते हैं वे इसी प्रक्रिया से पहले गुजर चुके होते हैं)। इतिहासकार, इसके पहले कि वह इतिहासलेखन आरंभ करे स्वयं इतिहास का उत्पादन होता है।

अभी हम जिन इतिहासकारों, ग्रोटे, मामसेन, ट्रैवेलान और नेमिएर, की चर्चा कर चुके हैं उनमें से हरेक एक विशेष सामाजिक तथा राजनीतिक सांचे में से निकले थे; उनकी आरंभिक और परवर्ती कृतियों में दृष्टिकोण का कोई खास अंतर नहीं दिखाई पड़ता लेकिन कुछ इतिहासकारों ने अपनी कृतियों में एक समाज

और एक समाज व्यवस्था के स्थान पर क्रमशः कई समाज व्यवस्थाओं का चित्रण किया है और उनकी कृतियों में तीव्र परिवर्तन देखे गए हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण मुझे महान जर्मन उपन्यासकार मीनेख लगता है। उसका जीवन और कार्यकाल काफी लंबा था और अपने देश के अंदर घटित होने वाली क्रांतियों तथा निर्णायक परिवर्तनों का वह साक्षी था। दरअस्ल हम एक के स्थान पर तीन मीनेख देखते हैं, इनमें से प्रत्येक एक विशेष ऐतिहासिक युग का प्रवक्ता है और उसकी तीन बड़ी कृतियों में से एक के माध्यम से वह अपना ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। 1907 में प्रकाशित 'वेल्टब्यूगर्टुम उंड नात्सिओनल श्टट' का मीनेख बिस्मार्क के 'रीख' में जर्मनी के राष्ट्रीय आदर्शों को प्रतिफलित होते हुए देखता है और मैजिनी के परवर्ती 19वीं शताब्दी के अधिकांश विचारकों की तरह राष्ट्रीयता को विश्ववाद का उच्चतम स्वरूप मानता है। बिस्मार्क के युग का यह एक विचित्र उत्पाद है। 1925 में प्रकाशित 'दि इडिये डेर श्टाट्सरेजन' का मीनेख वीमर गणतंत्र के द्विधाग्रस्त तथा चकित मस्तिष्क से बात करता है। उस समय राजनीति की दुनिया तार्किकता और राजनीति के लिए अस्पृश्य एक विशेष प्रकार की नैतिकता का समाप्त न होने वाला अखाड़ा बनी हुई थी। यह तार्किकता और नैतिकता किसी भी तरह राज्य के जीवन और सुरक्षा को अंतिम रूप से प्रभावित नहीं कर पा रही थी। अंत में 1936 में प्रकाशित 'दि एंटश्टेहुंग देस हिस्टोरिस्मुस' के मीनेख को हम देखते हैं, जिसे नाजी सैलाब ने उसके शैक्षिक सम्मान से वंचित कर दिया था। हम मीनेख को हताशा में चीखते हुए पाते हैं और 'जो कुछ है, सही है' इतिहास दर्शन को रद्द करते हुए पाते हैं और देखते हैं कि वह तिलमिलाता हुआ ऐतिहासिक सापेक्षतावाद तथा अति तार्किक परमशक्तिवाद के बीच झूल रहा है। सबसे आखिर में जब अपनी वृद्धावस्था में मीनेख देखता है कि उसका देश 1918 की तुलना में कहीं अधिक बड़ी सैनिक पराजय का सामना कर चुका है तो 1946 में प्रकाशित अपनी कृति 'दि डायचे कैटास्ट्रफे' में असहाय होकर वह यह मान बैठता है कि इतिहास अंधे और निर्दय अवसर की दया पर आश्रित होता है।[8] एक व्यक्ति के रूप में मीनेख के विकास में किसी मनोवैज्ञानिक अथवा जीवनी लेखक को रुचि हो सकती है लेकिन इतिहासकार की रुचि उस प्रक्रिया पर है जिसके अंतर्गत मीनेख तीन या चार उत्तरोत्तर, परस्पर विरोधी वर्तमान की कालावधियों को ऐतिहासिक अतीत के रूप में प्रतिबिंबित करता है।

आइए, हम अपने घर के पास का एक उदाहरण लें। 1930 के बाद के मूर्तिभंजक दशक के उन दिनों में लिबरल पार्टी ब्रिटिश राजनीति में अपना असर खो चुकी थी, प्रो० बटरफील्ड ने 'दि ह्विग इंटरप्रेटेशन आफ हिस्ट्री' नामक पुस्तक लिखी जिसे काफी सफलता मिली। यह सफलता उचित थी। यह एक विशिष्ट ग्रंथ था। इसकी विशिष्टता के कई कारण थे। यद्यपि 130 से अधिक पृष्ठों में इतिहासकार

ने इतिहास की ह्विग व्याख्या की आलोचना की थी (अनुक्रमणिका के अभाव में मेरे लिए जहां तक देख पाना संभव था) फिर भी इस पुस्तक में फाक्स के अलावा ऐसे एक भी ह्विग की चर्चा नहीं है जो इतिहासकार न था और न ही ऐक्टर के अलावा किसी ऐसे इतिहासकार की चर्चा है जो ह्विग न था।[9] किताब में विवरण और सूक्ष्मता की जो कमी थी वह लेखक की तीक्ष्ण विश्लेषण शैली से पूरी हो गई। पाठक के मन में कोई संदेह नहीं रह गया था कि इतिहास की ह्विग व्याख्या गलत थी। इसके खिलाफ जो आरोप थे उनमें से एक यह था कि यह 'वर्तमान के संदर्भ में अतीत का अध्ययन' करता है। इस मुद्दे पर प्रो० बटरफील्ड के विचार बहुत स्पष्ट और तीखे थे। वर्तमान पर एक आंख रख कर अतीत का अध्ययन करना ही इतिहास के तमाम पापों और कुतर्कों की जड़ है···'अनैतिहासिक' शब्द से हम जो समझते हैं, वह यही है।[10]

बारह साल बीत चुके थे। मूर्तिभंजन का फैशन खत्म हो गया था। प्रो० बटरफिल्ड का देश एक ऐसे युद्ध में संपृक्त था जिसके बारे में अकसर कहा जाता था कि वह ह्विग परंपरा में मूर्त सांविधानिक स्वतंत्रता की रक्षा में लड़ा गया था और जिसका नेतृत्व एक ऐसे महान व्यक्ति के हाथों में था जो 'वर्तमान पर एक आंख रख कर' अतीत की लगातार व्याख्या करता था। 1944 में प्रकाशित अपनी एक छोटी सी पुस्तिका 'दि इंगलिश मैन ऐंड हिज हिस्ट्री' में प्रो० बटरफील्ड ने न केवल यह निर्णय दिया कि इतिहास की ह्विग व्याख्या ही उसकी 'अंगरेजी' व्याख्या है, बल्कि उत्साही स्वर में 'अंगरेज का अपने इतिहास के साथ रिश्ता' और 'वर्तमान और अतीत का गठबंधन' के बारे में बातें कीं।[11] दृष्टिकोण के इस आमूल परिवर्तन की ओर ध्यान दिलाना अमैत्रीपूर्ण आलोचना नहीं है। मेरा उद्देश्य यह नहीं है कि मैं परवर्ती बटरफील्ड से पूर्ववर्ती बटरफील्ड के विचारों को काटूं अथवा नशे में धुत बटरफील्ड के सामने होशोहवास वाले बटरफील्ड को खड़ा करूं। मैं अच्छी तरह जानता हूं कि अगर कोई व्यक्ति युद्ध के पहले, युद्ध के दौरान और युद्ध के बाद मेरे द्वारा लिखी कुछ चीजों को देखने की तकलीफ उठाए तो उसे मेरे लेखन में उसी तरह के अंतर्विरोधों और विश्रृंखलताओं के प्रमाण मिलेंगे जैसे मैंने औरों में दिखाए हैं और वह बड़ी आसानी से मुझ से यह बात मनवा सकता है। सचमुच मैं नहीं जानता कि मुझे उस इतिहासकार से ईर्ष्या करनी चाहिए या नहीं जिसने विश्व को अपने दृष्टिकोण में किसी भारी बदलाव के बिना पिछले पचास वर्षों को हिला देने वाली घटनाओं को अपनी आंखों देखा है। मेरा उद्देश्य केवल यह दिखाना है कि इतिहासकार की कृतियां कितनी बारीकी से उसके समाज को प्रतिबिंबित करती हैं। केवल घटनाएं ही प्रवहमान नहीं होतीं इतिहासकार भी प्रवहमान होता है। जब आप किसी इतिहास की कृति को हाथ में लें तो मुखपृष्ठ पर केवल लेखक का नाम पढ़ लेना ही काफी नहीं होता। उसके लेखन

और प्रकाशन की तिथि भी देख लेनी चाहिए। कभी कभी आपको इससे अधिक जानकारी मिलेगी। अगर किसी दार्शनिक का यह कहना सही है कि हम किसी एक नदी में दो बार प्रविष्ट नहीं हो सकते तो संभवत: इसी कारण यह भी उतना ही सच है कि एक ही इतिहासकार द्वारा दो पुस्तकें नहीं लिखी जा सकतीं।

और अगर पल भर के लिए हम अपना ध्यान व्यक्ति इतिहासकारों से इतिहास लेखन की प्रमुख पद्धतियों पर केंद्रित करें तो हमारे सामने और भी स्पष्ट हो जाता है कि इतिहासकार किस सीमा तक अपने समाज का उत्पाद होता है। 19वीं शताब्दी में ब्रिटिश इतिहासकार इतिहास की धारा को प्रगति के सिद्धांत का प्रदर्शन करने वाला मानते थे। वे समाज के आदर्श को अद्‌भुत गति से विकसित होती हुई स्थितियों में व्यक्त करते थे। इसका एक अपवाद भी कठिनाई से मिलता था। ब्रिटिश इतिहासकारों के लिए इतिहास तब तक सार्थक था जब तक वह हमारे इच्छित ढंग से चलता हुआ जान पड़ रहा था और अब, जब उसने एक गलत मोड़ ले लिया है, इतिहास की सार्थकता में विश्वास करना एक पाखंड माना जाता है। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात ट्वायन्बी ने इतिहास के ऋजुरेखानुवर्ती दृष्टिकोण को चक्राकार सिद्धांत के द्वारा स्थानांतरित करने की घनघोर चेष्टा की। चक्राकार सिद्धांत पतनशील समाज का विशिष्ट आदर्श होता है।[12] ट्वायन्बी की असफलता के बाद अधिकांश ब्रिटिश इतिहासकारों ने यह कह कर छुट्टी पा ली कि इतिहास का कोई सामान्य प्रतिमान नहीं होता। इसी आशय की फिशर की एक दायित्वहीन टिप्पणी[13] गत शताब्दी की रैंक की व्याख्या के समान ही लोकप्रिय हुई थी। यदि कोई मुझसे यह कहे कि गत तीस वर्षों से इतिहासकारों का हृदय परिवर्तन गंभीर व्यक्तिगत चिंतन तथा अपने अध्ययन कक्ष में आधी रात तक बैठकर किए गए मानवीय श्रम का फल है तो मैं उसकी बात का विरोध करना जरूरी नहीं मानूंगा। मगर मेरे लिए यह सब व्यक्तिगत चिंतन और मनन, एक सामाजिक अनुलक्षण होगा। 1914 के बाद से हमारे समाज के दृष्टिकोण में जो मूलभूत परिवर्तन आया है जिसके फलस्वरूप उसका चरित्र बदला है, मैं इसे उसी बदले हुए चरित्र और दृष्टिकोण का उत्पादन और अभिव्यक्ति मानूंगा। किसी भी समाज के चरित्र को उद्‌घाटित करने वाला महत्वपूर्ण सूचक वह इतिहास होता है जो उस समाज द्वारा लिखा गया अथवा जिसके लिखने में वह असफल रहा। डच इतिहासकार गेल ने अंगरेजी में अनूदित अपनी आकर्षक पुस्तक 'नेपोलियन फार एंड अगेंस्ट' में इस तथ्य को बड़ी सफाई से पैना किया है कि 19वीं शताब्दी के फ्रांसीसी इतिहासकारों ने नेपोलियन पर जो लगातार फतवे दिए थे वे उस पूरी शताब्दी फ्रांसीसी राजनीतिक जीवन के बदलते हुए परस्पर विरोधी प्रतिमानों की प्रतिछाया हैं। अन्य आदमियों की तरह इतिहासकारों के विचार भी स्थान और काल के परिवर्तन द्वारा निर्मित होते हैं। ऐक्टन ने जो इस सच्चाई को अच्छी तरह पहचानता था

इतिहास में ही इस पलायन का रास्ता ढूंढ लिया था : 'न केवल अपने समय के बल्कि बीते हुए अन्य समयों के अनुचित प्रभाव से, अपने परिवेश के अत्याचार से और जिस हवा में हम सांस लेते हैं उसके दबाव से केवल इतिहास ही हमें मुक्ति दे सकताहै।'[14]

यह इतिहास का एक बेहद आशावादी मूल्यांकन प्रतीत हो सकता है। मगर मैं यह विश्वास करता हूं कि वह इतिहासकार जो अपनी स्थितियों के प्रति सजग है उनसे ऊपर उठने में भी उतना ही समर्थ है। वह अपने समाज और अपने समय के दृष्टिकोण के साथ ही दूसरे देश और काल के दृष्टिकोणों को और उनके अंतर के मूल स्वभाव को भी समझ सकने में समर्थ है बनिस्बत उस इतिहासकार के जो गला फाड़कर चिल्लाता है कि वह एक व्यक्ति है, एक सामाजिक अनुलक्षण नहीं। जितनी संवेदनशीलता के साथ आदमी अपनी सामाजिक तथा ऐतिहासिक स्थिति से अपने को जुड़ा हुआ पाता है उतना ही ऊपर उठने की उसकी क्षमता बढ़ जाती है।

अपने पहले भाषण में मैंने कहा था; इतिहास का अध्ययन करने से पहले इतिहासकार का अध्ययन करो। अब मैं कहना चाहूंगा; इतिहासकार का अध्ययन करने से पहले उसके ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिवेश का अध्ययन करो। इतिहासकार एक व्यक्ति के रूप में इतिहास और समाज का उत्पाद होता है और इतिहास के विद्यार्थी को उसे इसी दोहरी रोशनी में देखना चाहिए।

अब हम इतिहासकार को छोड़ें और मैंने जो समीकरण रखा, उसके दूसरे पक्ष अर्थात ऐतिहासिक तथ्यों को उन्हीं समस्याओं की रोशनी में देखें। इतिहासकार की खोज का लक्ष्य क्या होता है ? क्या व्यक्ति का व्यवहार तथा सामाजिक शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया ? मैं यहां एक पिटे पिटाए रास्ते पर आगे बढ़ रहा हूं। कुछ साल पहले सर आइसेया बर्लिन ने एक लोकप्रिय तथा सुंदर निबंध लिखा था जिसका शीर्षक था 'हिस्टारिकल इनेविटैबिलिटी'। इसमें प्रतिपादित सिद्धांतों की चर्चा मैं बाद में करूंगा। इस लेख में उन्होंने टी० एस० इलियट की त्रुटियों से एक सिद्धांत वाक्य लिखा था : 'विशाल अवैयक्तिक शक्तियां' (वास्ट इंपर्सनल फोर्सेज); और पूरे निबंध में सर बर्लिन ने उन लोगों का मजाक उड़ाया है जो विश्वास करते हैं कि इतिहास में निर्णायक भूमिका व्यक्ति नहीं बल्कि यह 'विशाल अवैयक्तिक शक्तियां' निभाती हैं। व्यक्तियों के चरित्र और व्यवहार इतिहास में महत्वपूर्ण होते हैं और यह एक लंबी प्रक्रिया है, इसे मैं इतिहास का 'बैड किंग जान सिद्धांत' कहूंगा। इतिहास में व्यक्तिगत जीनियस को रचनात्मक शक्ति के रूप में परिकल्पित करने की इच्छा ऐतिहासिक चेतना की आदिम स्थिति की सूचना देती है। प्राचीन-ग्रीक जाति के लोग अतीत की उपलब्धियों को उन नायकों के नामों के साथ जोड़ते थे जो उन उपलब्धियों के लिए जिम्मेदार थे। अपने काव्यों को होमर

नामक एक महाकवि के नाम से अपने कानूनों और संस्थाओं को एक लाइकर्गस या एक सोलों के साथ जोड़ देते थे। इसी तरह का रुझान पुनर्जागरण के समय दिखाई पड़ता है जब जीवनी लेखक : नीतिज्ञ प्लूटार्च प्राचीन इतिहासकारों की तुलना में कहीं अधिक लोकप्रिय था और क्लैसिक पुनर्जागरणवाद के लिए बहुत प्रभावशाली व्यक्तित्व सिद्ध हुआ था। एक तरह से कहा जाए तो हमने खासकर इस देश में यह सिद्धांत पालने में ही सीख लिया था और आज संभवतः हम यह स्वीकार करेंगे कि यह सिद्धांत खुद बचकाना है। इसका औचित्य एक सीमा तक उन दिनों था जब समाज की रचना सहज थी और कुछ जाने माने व्यक्ति जनकार्य का काम निपटाते थे। जाहिर है यह सिद्धांत हमारे समय के संश्लिष्ट समाज पर पूरा नहीं उतरता; और 19वीं शताब्दी में जन्मे समाजशास्त्रीय विज्ञान ने इस बढ़ती हुई संश्लिष्टता का उत्तर दिया है। फिर भी पुरानी परंपराए बड़ी मुश्किल से मरती हैं। इस शताब्दी के आरंभ में यह आप्त वाक्य बड़ा प्रसिद्ध था कि 'इतिहास महान व्यक्तियों की जीवनी' होता है। केवल दस वर्ष पूर्व एक प्रसिद्ध अमरीकी इतिहासकार ने अपने साथी इतिहासकारों पर आरोप लगाया था (संभवतः बहुत गंभीरता से नहीं) कि उन्होंने 'ऐतिहासिक चरित्रों की सामूहिक हत्या की है' क्योंकि उन्होंने उन चरित्रों को 'सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियों की कठपुतली माना है।'[15] इस सिद्धांत के प्रेमी आजकल इसे कहने में शर्माते हैं मगर थोड़ा खोज करने पर इसका एक बेहतरीन समसामयिक वक्तव्य मिस वेजवुड की एक पुस्तक के प्रस्तावना अंश में मिला है। वह लिखती हैं :

> मेरे लिए मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन दलो और वर्गों के रूप में उतना दिलचस्प नहीं जितना व्यक्तियों के रूप में। इन दोनों पूर्वग्रहों में से किसी एक को आधार मानकर इतिहास लिखा जा सकता है मगर दोनों ही स्थितियों में वह कमोबेश समान रूप से भ्रामक होगा···यह पुस्तक···यह समझने का एक प्रयास है कि इन व्यक्तियों ने क्या महसूस किया और क्यों इस तरह का व्यवहार किया और वह व्यवहार उनकी अपनी दृष्टि में क्यों सही था।[16]

यह वक्तव्य बेहद स्पष्ट है और चूंकि मिस वेजवुड काफी लोकप्रिय लेखिका है इसलिए तय है और बहुत से लोग भी ऐसा ही सोचते होंगे। उदाहरण के लिए डा० रोसे हमें बताते हैं कि एलिजाबेथकालीन व्यवस्था इसलिए तहस-नहस हो गई क्योंकि जेम्स प्रथम उसे समझने में असमर्थ था और 17वीं शताब्दी की अंगरेजी क्रांति इसलिए असफल रही क्योंकि प्रथम दो स्टुअर्ट राजाओं की मूर्खता के कारण वह एक दुर्घटना मात्र साबित हुई।[17] डा० रोसे की तुलना में सर जेम्स नील कहीं अधिक शुद्धतावादी इतिहासकार हैं। वे रानी एलिजाबेथ के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने में ज्यादा उत्सुक दिखाई देते हैं बजाय इसके कि वे इस तथ्य की व्याख्या करते कि ट्यूडर साम्राज्य का आधार क्या था। सर आइसे या बर्लिन अपने निबंध

में, जिसका हवाला मैंने अभी दिया है, इस बात से परेशान दीखते हैं कि कहीं इतिहासकार चंगेजखां और हिटलर जैसे बुरे लोगों की निंदा करना न भूल जाए।[18] 'बैड किंग जान' और 'गुड क्वीन बेस' सिद्धांत पिछले दिनों में अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित हुआ है। साम्यवाद (कम्यूनिज्म) को 'कार्ल मार्क्स का मानस पुत्र' (मैंने यह सुनहरा मुहावरा पिछले दिनों जारी किए गए सट्टा बाजार के एक परिपत्र से उठाया है) कहना इसके उद्भव और चरित्र की व्याख्या करने की अपेक्षा कहीं अधिक आसान है। बोल्शेविक क्रांति को निकोलस द्वितीय की मूर्खता या जर्मन स्वर्ण भंडार के सिर मढ़ना इसके गंभीर सामाजिक कारणों के खोज की अपेक्षा कहीं अधिक आसान है। दो विश्वयुद्धों को अंतर्राष्ट्रीय संबंध की व्यवस्था में गहरे पैठे अवरोधों का कारण मानने की अपेक्षा विलहेल्म द्वितीय और हिटलर की व्यक्तिगत दुष्टता के मत्थे मढ़ना कहीं अधिक आसान है।

मिस वेजवुड के वक्तव्य में दो प्रस्थापनाएं निहित हैं, उनमें से पहली यह है कि एक व्यक्ति के रूप में मनुष्य का व्यवहार किसी दल या वर्ग के सदस्य के रूप में उसके व्यवहार से एकदम भिन्न होता है, इतिहासकार वैधानिक रूप से इन दोनों में से किसी एक का चुनाव कर सकता है। दूसरी प्रस्थापना यह है कि व्यक्ति के रूप में मनुष्य के व्यवहार के अध्ययन में ही उसके कार्यों की सचेतन प्रेरणा का अध्ययन भी निहित होता है।

जो कुछ मैं पहले कह चुका हूं वह इसमें से पहले मुद्दे के लिए पर्याप्त है। मनुष्य को व्यक्ति के रूप में देखना या उसे एक दल के सदस्य के रूप में देखना, कम या अधिक भ्रामक नहीं है, बल्कि इन दोनों दृष्टियों के बीच विभाजन रेखा खींचने की चेष्टा करना ही भ्रामक है। पारिभाषिक तौर पर व्यक्ति एक समाज या संभवतः अनेक समाजों का सदस्य होता है, उन समाजों को आप दल, वर्ग, जाति, राष्ट्र या और भी जो नाम देना चाहें दें। आरंभिक जीव विज्ञानी पिंजड़े में बंद चिड़ियों, एक्वेरियम में बंद मछलियों और अजायबघर में रखे जानवरों का वर्गीकरण करके संतुष्ट हो गए थे। उन्होंने जीव जंतुओं को उनके परिवेश में रखकर नहीं देखा था। संभवतः सामाजिक विज्ञान आज भी जीव विज्ञानियों की उस आरंभिक धारणा से ऊपर नहीं उठ पाए हैं। कुछ लोग मनोविज्ञान को व्यक्ति आधारित विज्ञान और समाजशास्त्र को समाज आधारित विज्ञान के अलग अलग कठघरों में रखकर देखते हैं। उस धारणा को मनोविज्ञानवाद का नाम दिया गया है जिसके अनुसार सभी सामाजिक समस्याओं की कुंजी व्यक्ति मानव के व्यवहार की व्याख्या में पाई जा सकती है, लेकिन वह मनोवैज्ञानिक जो व्यक्ति के सामाजिक परिवेश का अध्ययन करने में असफल होता है अपनी खोज में ज्यादा दूर नहीं जा सकता।[19] मनुष्य का व्यक्ति के रूप में अध्ययन करने के उद्देश्य से लिखी जाने वाली जीवनी और संपूर्ण के एक अंश के रूप में मनुष्य के अध्ययन के उद्देश्य से

लिखे जाने वाले इतिहास के बीच सीमारेखा खींचना और यह कहना कि अच्छी जीवनी बुरा इतिहास होता है, किसी को भी आकर्षक लग सकता है। ऐक्टन ने एक बार लिखा : 'व्यक्ति चरित्रों में लोगों की जो रुचि पैदा हो गई है उससे मनुष्य की इतिहास दृष्टि में जितनी अधिक गलतियां और भ्रम पैदा हुए हैं उतने और किसी चीज से नहीं।'[20] मगर यह विभेद भी अवास्तविक है। मैं जी० एम० यंग की पुस्तक 'विक्टोरियन इंग्लैंड' के टाइटिल पृष्ठ पर दिए गए इस विक्टोरिया-कालीन मुहावरे की भी आड़ नहीं लूंगा कि : 'नौकर चाकर लोगों के बारे में बात करते हैं और भले लोग समस्याओं पर तर्क-वितर्क करते हैं।'[21]

कुछ जीवनियों का इतिहास को गंभीर योगदान होता है। हमारे अपने क्षेत्र में आइजक ड्वायट्शर द्वारा लिखी स्तालिन और ट्राट्स्की की जीवनियां इसके अच्छे उदाहरण हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों की तरह की दूसरी कृतियां साहित्य की चीज होती हैं। प्रो० ट्रेवर रोपर ने लिखा है : 'लिटन स्ट्रैची के लिए ऐतिहासिक समस्याएं हमेशा व्यक्तिगत व्यवहार और व्यक्तिगत सनक की समस्या होती थी···ऐतिहासिक समस्याओं, राजनीति और समाज की समस्याओं के बारे में न उसने कोई सवाल किए और न ही उनके जवाब देने की कोशिश की।'[22] इतिहास लिखना और पढ़ना किसी की बाध्यता नहीं है। साथ ही अतीत के बारे में ऐसी बेहतरीन किताबें आराम से लिखी जा सकती हैं जो इतिहास न हों। लेकिन मैं सोचता हूं रूढ़ियों ने इतिहास शब्द को हमें एक विशेष प्रक्रिया को व्यंजित करने के लिए दिया है और वह है समाज में मनुष्य के अतीत की खोज की प्रक्रिया। मैं अपने इन भाषणों में यही सिद्ध करने जा रहा हूं।

दूसरा मुद्दा पहली ही नजर में अजीब लगेगा कि ऐतिहासिक व्यक्तियों ने क्यों एक विशेष ढंग का व्यवहार किया और वह व्यवहार उनकी अपनी दृष्टि में क्यों सही था। मुझे शक है कि दूसरे समझदार लोगों की तरह मिस वेजवुड भी अपने उपदेशों पर खुद नहीं चलतीं। अगर चलतीं तो उन्होंने इतिहास की कुछ बड़ी अजीबोगरीब पुस्तकें लिखी होतीं। आज हर आदमी जानता है कि मनुष्य हमेशा अपने कार्यों के पीछे निहित प्रयोजनों के प्रति सचेत नहीं होता और कसम खाकर नहीं कह सकता कि उसका प्रयोजन क्या था। वह कुछ चीजें अभ्यासवश करता है। अपने अचेतन में झांके बिना अथवा अनिश्चित प्रयोजन लेकर काम करना वैसा ही है जैसे अपनी एक आंख जानबूझकर बंद करके काम करना। फिर भी कुछ लोगों के अनुसार इतिहासकार को यही करना चाहिए। असली मुद्दा यों है। जिस सीमा तक आप यह कहकर संतुष्ट हो लेते हैं कि किंग जान की बुराई उसकी मूर्खता, लालच और अत्याचारी शासक बनने की महत्वाकांक्षा में थी, उसी सीमा तक आप व्यक्तिगत विशेषताओं की शब्दावली में बोलते नजर आते हैं। ये धारणाएं इतिहास के शैशव काल में प्रचलित थीं। मगर यह कहना शुरू करते

ही कि किंग जान उन निहित तत्वों के हाथ का कठपुतला था जो सामंती बैरनों के उदय के विरोधी थे, आप किंग जान की बुराई का एक ज्यादा संश्लिष्ट और परिष्कृत दृष्टिकोण सामने रखते हैं। यही नहीं आप यह संकेत भी देते हैं कि ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे व्यक्तियों के सचेत कार्यों का उतना हाथ नहीं होता बल्कि उसकी अचेत इच्छाशक्ति को निर्देशित करने वाली बाहरी तथा अप्रतिहत शक्तियों के हाथ में होता है। मगर यह बात बकवास है। जब तक मेरा सवाल है मैं दैव गति, विश्व आत्मा, नियति अथवा इस तरह की अन्य अमूर्त शक्तियों पर विश्वास नहीं करता जिनके बारे में कहा जाता है कि वे इतिहास की गति को निर्देशित करती हैं।

और हम मार्क्स के निम्नांकित मंतव्य की पुष्टि करते हैं : 'इतिहास कुछ नहीं करता, इसके पास कारूं का खजाना नहीं होता, यह कोई युद्ध नहीं करता। दरअस्ल मनुष्य, वास्तविक और जीवित मनुष्य, ही संपत्ति का स्वामित्व प्राप्त करता है और युद्ध करता है।[23]

इस प्रश्न पर मैं दो टिप्पणियां करना चाहता हूं, जो शुद्ध रूप से अनुभववादी अवधारणाओं पर आधारित हैं और इतिहास के किसी अमूर्त दृष्टिकोण से संबंधित नहीं है।

पहली टिप्पणी है, काफी हद तक इतिहास संख्याओं का विषय है। कार्लायल ने यह भ्रमपूर्ण स्थापना की थी कि महान व्यक्तियों की जीवनियां ही इतिहास है, फिर भी अपने श्रेष्ठ इतिहास ग्रंथ में बेहद स्पष्टता और तीव्रता के साथ वह कहता है :

> फ्रांसीसी क्रांति की मूल प्रेरक शक्ति थी : भोजन, वस्त्र की कमी और तथाकथित कल्याणकारी शोषण के बोझ तले पिसती 2.5 करोड़ जनता के दिलों की कराह, न कि शहरी सामंतवर्ग या धनी दुकानदारों और दार्शनिक वकीलों के घायल अहं या अंतर्विरोधग्रस्त दर्शन। भविष्य में भी सभी देशों में सभी क्रांतियों की मूल प्रेरक शक्ति यही होगी।[24]

या जैसा लेनिन ने कहा था : 'गंभीर राजनीति जनसाधारण के पास से, लाखों करोड़ों के पास से शुरू होती है, न कि हजारों के पास से।[25]

कार्लायल और लेनिन के 'लाखों करोड़ों' लोग दरअस्ल लाखों करोड़ों व्यक्ति थे, उनमें कुछ भी निर्वैयक्तिक नहीं था। इस प्रश्न पर बातें करते वक्त कभी कभी नामहीनता को व्यक्तित्वलोप मान लिया जाता है। चूंकि हम उनके नाम नहीं जानते इसीलिए लोग, लोग नहीं रह जाते ये व्यक्ति, व्यक्ति नहीं रह जाते हैं, यह सही नहीं है। इलियट की 'विराट, निर्वैयक्तिक शक्तियां' दरअस्ल व्यक्ति ही थे जिन्हें साहसी और स्पष्ट वक्ता कंजर्वेटिव श्री क्लैरेंडन ने 'नामहीन गंदे लोग' कहा था।[26] ये नामहीन लाखों करोड़ों लोग व्यक्तियों के समूह ही हैं, जो कमोबेश

अचेतन रूप से क्रिया करते हैं और एक सामाजिक शक्ति बन जाते हैं। सामान्य स्थिति में इतिहासकार किसी असंतुष्ट ग्रामीण या ग्राम की ओर ध्यान नहीं देता। परंतु हजारों ग्रामों में रहनेवाले लाखों करोड़ों असंतुष्ट ग्रामीणों की उपेक्षा कोई भी इतिहासकार नहीं कर सकता। जोंस के ब्याह न होने की वजह क्या थी इससे इतिहासकार को कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती, जब तक कि उसी कारण से जोंस की पीढ़ी के हजारों लाखों और लोग भी प्रभावित नहीं होते और विवाह की दरों में एक बड़े मिकदार में कमी नहीं दीख पड़ती। ऐसी स्थिति में जोंस के विवाह न करने की वजह ऐतिहासिक महत्व पा जाती है। हमें इस साधारणीकरण से भी बिदकना न चाहिए कि आंदोलनों का नेतृत्व मुट्ठीभर लोग करते हैं और ढेर सारे दूसरे लोग केवल उसका समर्थन करते हैं। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि उक्त आंदोलन की सफलता के लिए उन ढेर सारे समर्थकों की आवश्यकता नहीं है। इतिहास में संख्याओं का महत्व है।

मेरी दूसरी टिप्पणी ज्यादा प्रामाणिक है। विभिन्न विचारधाराओं का समर्थन करने वाले लेखक एक बात पर सहमत हैं कि कभी कभी व्यक्तियों के क्रियाकलापों के निष्कर्ष ऐसे होते हैं जिनकी कल्पना न तो उनके कर्ताओं ने की थी और न ही किसी और व्यक्ति ने। ईसाइयों का विश्वास है कि व्यक्ति, जो प्रायः सचेतन रूप से स्वार्थपूर्ति में लगा होता है, अचेतन रूप से ईश्वरीय उद्देश्यों की पूर्ति का साधन होता है। 'व्यक्तिगत दोष, सार्वजनिक गुण' का मैंडेविले का विरोधाभासपूर्ण उद्गार दरअस्ल उसी आविष्कार का एक पूर्वकथन था। ऐडम स्मिथ के 'अदृश्य हाथ' और हीगेल का 'तर्क की चतुराई' व्यक्तियों को सक्रिय करते हैं और अपने उद्देश्य की पूर्ति कराते हैं, जबकि व्यक्ति यह विश्वास करते होते हैं कि वे अपनी निजी इच्छाओं की पूर्ति कर रहे हैं, ये विचार इतने सर्वविदित हैं कि इनका उदाहरण देना अनावश्यक है। 'क्रिटीक टु पोलिटिकल इकोनोमी' नामक पुस्तक की भूमिका में मार्क्स लिखते हैं: 'उत्पादन के साधनों के सामाजिक उत्पाद में मानव प्राणी ऐसे निश्चित तथा आवश्यक संबंधों को स्वीकार करते हैं, जो उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं।' ऐडम स्मिथ की ही बात तोल्स्तोय ने अपने उपन्यास 'वार एंड पीस' में दुहराते हुए कहा है: 'सचेतन रूप से मनुष्य अपने लिए जीता है, परंतु अचेतन रूप से वह मानवजाति के ऐतिहासिक तथा सार्वभौमिक उद्देश्यों की पूर्ति करता होता है।'[27] इस तरह के उद्गार प्रकट करनेवाले विचारकों की एक लंबी सूची है, परंतु प्रो० बटरफील्ड का मंतव्य उद्धृत करके हम यह चर्चा यहीं खत्म करते हैं। प्रो० बटरफील्ड कहते हैं: 'ऐतिहासिक घटनाओं का कुछ ऐसा चरित्र होता है कि वे इतिहास की धारा को एक ऐसी दिशा में मोड़ देती हैं, जिसकी किसी व्यक्ति ने कामना नहीं की थी।'[28] छोटे स्थानीय युद्धों की एक शताब्दी के बाद 1914 से आज तक हमने दो बड़े विश्वयुद्ध झेले। इसकी सीधी सपाट विवेचना

करते हुए यह कहना गलत होगा कि उन्नीसवीं शताब्दी के शेष तीन चौथाई की अपेक्षा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ज्यादातर व्यक्ति युद्ध चाहते थे और थोड़े व्यक्ति शांति। यह विश्वास करना कठिन है कि किसी भी व्यक्ति ने 1930 के दशक की भयंकर आर्थिक मंदी की कामना की होगी, जबकि निश्चित रूप से यह किन्हीं व्यक्तियों के कार्यों का फल था, हालांकि वे सचेत रूप से पूर्णतया भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति में लगे हुए थे। व्यक्ति के उद्देश्यों और उसके कार्यों के परिणामों के बीच के इस वैभिन्य को रेखांकित करने के लिए हमें सदा अतीत का मुआइना करने वाले इतिहासकार की गवाही की जरूरत नहीं होती। मार्च, 1917 में वुडरो विल्सन के बारे में लाज ने लिखा है : 'वह युद्ध नहीं करना चाहता है, मगर मेरा ख्याल है घटनाएं उसे अपने साथ वहां ले जाएंगी।'[29]

'मानवीय इरादों की व्याख्या के रूप में' इतिहास लिखा जा सकता है इस सुझाव का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। 'अपने निजी मूल्यांकन के आधार पर उन्होंने ऐसा क्यों किया' : में निहित उद्देश्यों की कर्ताओं द्वारा की गई व्याख्या के आधार पर भी इतिहास लेखन संभव नहीं। इतिहास के तथ्य वस्तुत: व्यक्तियों से संबंधित तथ्य हैं, परंतु वे व्यक्तियों के निजी तौर पर किए गए कार्यों से संबंधित तथ्य नहीं हैं, न ही उन वास्तविक या काल्पनिक उद्देश्यों से संबंधित हैं, जिनसे प्रेरित होकर व्यक्तियों ने वे कार्य किए या ऐसा मान लिया। वे तथ्य समाज में व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों और उन सामाजिक शक्तियों पर आधारित होते हैं, जो व्यक्तियों के कार्यों के द्वारा अभीप्सित नतीजों से भिन्न कभी कभी विपरीत नतीजे सामने लाती हैं।

कालिंगवुड के इतिहास विषयक दृष्टिकोण का विशेष दोष जिसकी चर्चा मैं पिछले भाषण में कर चुका हूं, उसकी इस मान्यता में था कि कर्म के पीछे जो चिंतन था और जिसकी जांच इतिहासकार को करनी थी, वह कर्ता व्यक्ति का चिंतन था। यह एक मिथ्या धारणा है। इतिहासकार की जांच का विषय है, कर्म की प्रेरक शक्ति क्या थी। और इस जांच के लिए कर्ता व्यक्ति का सचेत चिंतन या उद्देश्य एकदम अप्रासंगिक हो सकता है।

यहां मैं इतिहास में विद्रोही या असहमत की भूमिका पर कुछ कहना चाहूंगा। समाज से विद्रोही व्यक्ति की लोकप्रिय तस्वीर उकेरने का अर्थ है, समाज और व्यक्ति के बीच मिथ्या विरोध को फिर से स्थापित करना। हर समाज सामाजिक संघर्षभूमि होता है और वे व्यक्ति जो स्थापित व्यवस्था के विरोध में खड़े होते हैं, उस व्यवस्था के समर्थकों के समान ही उक्त समाज की उपज और प्रतिछवि हैं। रिचर्ड द्वितीय और कैथरिन महान क्रमश: 14वीं शताब्दी इंग्लैंड और 18वीं शताब्दी रूस की शक्तिशाली सामाजिक शक्तियों का उतना ही प्रतिनिधित्व करते हैं जितना वाट टेलर और पुगाचेव जो उक्त देशों के महान दास विद्रोह के नेता

थे। शाहंशाह और विद्रोही दोनों ही अपने देश और काल की संश्लिष्ट स्थितियों की उपज थे। वाट टेलर और पुगाचेव के विद्रोह को समाज के विरुद्ध व्यक्ति का विद्रोह कहना निहायत भ्रामक सरलीकरण है। अगर वे केवल विद्रोही व्यक्ति होते तो इतिहासकार को उनके बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। इतिहास में उनकी भूमिका का महत्व उनका समर्थन करने वाले बहुसंख्यक लोगों के कारण है और एक सामाजिक घटना के रूप में ही उनका महत्व है, अन्यथा नहीं। या फिर आइए हम एक विशिष्ट विद्रोही और व्यक्तिवादी को थोड़े से और सूक्ष्म स्तर पर लें। बहुत कम लोग होंगे जिन्होंने अपने समाज के खिलाफ नीत्शे की अपेक्षा ज्यादा तीखी और उग्र प्रतिक्रिया व्यक्त की हो। फिर भी नीत्शे यूरोपीय, विशेषकर जर्मन समाज की सीधी उपज था। वह एक ऐसी घटना था जो चीन या पेरू में नहीं घटित हो सकता था। नीत्शे की मौत के एक पीढ़ी बाद उसके समकालीनों की अपेक्षा लोगों को कहीं अधिक स्पष्ट दीख पड़ा कि वे यूरोपीय विशेषकर जर्मन सामाजिक शक्तियां कितनी शक्तिशाली थीं, जो इस व्यक्ति के माध्यम से सामने आई थीं और नीत्शे अपनी पीढ़ी की अपेक्षा आनेवाली पीढ़ियों के लिए कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण हो उठा।

इतिहास में विद्रोही की भूमिका के सिद्धांत की इतिहास में महापुरुषों के सिद्धांत के साथ कुछ समानता है। इतिहास का महापुरुष सिद्धांत, जिसका अच्छा उदाहरण इतिहासकारों के 'गुड-क्वीन-बेस-स्कूल' है, पिछले दिनों अमान्य हो गया है, हालांकि अब भी बीच बीच में यह सिर उठाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद शुरू की गई इतिहास की एक लोकप्रिय पाठ्य पुस्तक सिरीज के संपादक महोदय ने 'किसी महापुरुष की जीवनी के रूप में एक विशिष्ट ऐतिहासिक विषयवस्तु की प्रस्तावना' करने के लिए लेखकों का आह्वान किया था। श्री ए० जे० पी० टेलर ने अपने एक सामान्य निबंध में हमें बताया था कि 'आधुनिक यूरोप का इतिहास तीन महापुरुषों के आधार पर लिखा जा सकता है, नेपोलियन, बिस्मार्क और लेनिन।'[30] गनीमत है कि अपने गंभीर लेखन में उक्त लेखक ने कभी इस तरह का अधकचरापन नहीं दिखाया। इतिहास में महापुरुष की भूमिका क्या है ? महापुरुष व्यक्ति होता है और चूंकि वह अतिविशिष्ट व्यक्ति होता है, इसीलिए वह अतिविशिष्ट महत्व की सामाजिक घटना होता है। गिबन ने लिखा है : 'यह एक स्थापित तथ्य है कि समय असामान्य चरित्रों के अनुकूल होना चाहिए और हो सकता है कि क्रामवेल और रेट्ज जैसे असाधारण व्यक्ति आज पैदा होते तो गुमनाम ही रह जाते।'[31] 'दि एटींथ ब्रुमेर आफ लुई बोनापार्ट' में मार्क्स ने इसका विपरीत उदाहरण प्रस्तुत किया है : 'फ्रांस के वर्गसंघर्ष ने ऐसी परिस्थितियों और सामाजिक संबंधों को जन्म दिया जिससे निहायत मध्यम दर्जे के लोगों को हीरो बनने का मौका मिल गया।' अगर बिस्मार्क 18वीं शताब्दी में पैदा हुआ होता, हालांकि यह

फूहड़ कल्पना है क्योंकि तब वह बिस्मार्क नहीं हो सकता था तो उसे संयुक्त जर्मनी नहीं मिलता और वह कतई महान पुरुष नहीं हो पाता। परंतु मेरा ख्याल है तोल्स्तोय की तरह हमें महापुरुषों के महत्व को कम करके उन्हें 'घटनाओं को नाम देनेवाले लेबुल' मात्र नहीं मानना चाहिए। यह सच है कि कभी कभी महापुरुष सिद्धांत के पीछे बड़ी खतरनाक बातें छिपी होती हैं। नीत्शे का 'सुपरमैन' भय और आतंक पैदा करता है। हिटलर और सोवियत रूस में 'व्यक्ति पूजा' के उदाहरणों की याद दिलाना भी जरुरी नहीं है। यहां महापुरुषों की महानता को छोटा करना मेरा उद्देश्य नहीं है और न ही मैं इस मत का समर्थक हूं कि 'महापुरुष अधिकांश में बुरे होते हैं।' मैं केवल एक विशेष दृष्टिकोण को निरुत्साहित करना चाहता हूं, जो महापुरुषों को इतिहास के बाहर स्थापित कर देता है और महानता के बल पर उन्हें इतिहास को प्रभावित करते हुए दिखाता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार वे 'जादू की डिबिया में से सहसा निकलकर इतिहास की निरंतरता को बाधा देने आ पहुंचते हैं।'[32] हीगेल द्वारा दी गई महापुरुष की प्रसिद्ध परिभाषा को आज भी हम बेहतर नहीं बना सके हैं। उसके अनुसार :

> किसी युग का महापुरुष वह व्यक्ति होता है जो उस युग की आकांक्षाओं को शब्द दे सके, युग को बता सके कि उसकी आकांक्षा क्या है और उसे कार्यान्वित कर सके। वह जो करता है वह उसके युग का दृश्य और सार तत्व होता है, वह अपने युग को रूप देता है।[33]

डा० लेविस का भी कुछ ऐसा ही मंतव्य है जब वे कहते हैं कि 'महान लेखक इसलिए महत्वपूर्ण होते हैं कि वे मानवीय जागरूकता को प्रचारित करते हैं।'[34] महापुरुष सदा ही या तो वर्तमान शक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है या फिर उन शक्तियों का, जिनके निर्माण में वर्तमान व्यवस्था को चुनौती देने के लिए वह मदद करता है। मगर संभवत: उच्च कोटि की रचनात्मकता का श्रेय उन महापुरुषों को दिया जाना चाहिए जिन्होंने क्रामवेल या लेनिन की तरह उन शक्तियों की रचना में मदद पहुंचाई जो उन्हें महानता की ओर ले गईं; न कि नेपोलियन और बिस्मार्क जैसे उन महापुरुषों को जो पहले से विद्यमान शक्तियों पर सवार होकर महानता को प्राप्त हुए। हमें उन महापुरुषों को भी नहीं भूलना चाहिए जो अपने समय से इतना आगे थे कि उनकी महानता को बाद की पीढ़ियां ही पहचान सकीं। मुझे यह आवश्यक लगता है कि एक महापुरुष में स्थित उस अतिविशिष्ट व्यक्ति की पहचान की जानी चाहिए, जो एक साथ ही इतिहास प्रक्रिया का उत्पाद और एजेंट दोनों होता है और विश्व को तथा मानव चिंतन को परिवर्तित करनेवाली सामाजिक शक्तियों का निर्माता और प्रतिनिधि दोनों साथ साथ होता है।

अतएव शब्द के दोनों ही अर्थों में, यानी कि इतिहास द्वारा की जाने वाली खोज और अतीत के वे तथ्य जिनमें उसकी खोज चलती है, इतिहास एक सामा-

जिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति सामाजिक प्राणियों के रूप में कार्यरत होते हैं और समाज तथा व्यक्ति का विरोध मात्र एक धोखे की टट्टी है, जिसे हमारे चिंतन को भ्रमित करने के लिए खड़ा किया गया है। इतिहासकार और उसके तथ्यों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया, जिसे मैं वर्तमान और अतीत के बीच संवाद की संज्ञा देता हूं, एकाकी व्यक्ति और अमूर्त के बीच संवाद नहीं है, बल्कि मौजूदा समाज से बीते हुए समाज का संवाद है। बर्कहार्ड के शब्दों में : 'इतिहास उन चीजों का आलेख है जिन्हें एक युग दूसरे युग में से उल्लेखनीय मानकर ग्रहण करता है।'[35] केवल वर्तमान के प्रकाश में ही अतीत हमारे समझने योग्य बन पाता है और हम अतीत के प्रकाश में ही वर्तमान को पूरी तौर से समझ सकते हैं। अतीत के समाज को मनुष्य के लिए सुबोध बनाना और वर्तमान समाज पर उसकी पकड़ को और मजबूत करना, इतिहास का दुहरा कर्तव्य है।

संदर्भ

1. 'डिवोशंस अपान इमर्जेंट अकेजंस', नं० XVII.
2. जे. एस. मिल : 'ए सिस्टम आफ लाजिक', VII.
3. ध्वस्त स्पेनी जहाज का बचा हुआ आदमी जिसे राबिंसन क्रूसो ने आदमखोरों के हाथ से बचाया था : डेनियल डिफो : राबिंसन क्रूसो, (अनुवादक).
4. दुर्खीम ने आत्महत्या के अपने प्रसिद्ध अध्ययन में समाज से कटे हुए व्यक्ति की स्थिति को प्रदर्शित करने के लिए 'एनामी' शब्द का निर्माण किया था. यह वह स्थिति है जिसमें संवेगात्मक असंतुलन और आत्महत्या की अधिक संभावना होती है; किंतु उसने यह भी दिखाया है कि आत्महत्या सामाजिक स्थितियों से किसी प्रकार भी स्वतंत्र नहीं होगी.
5. यहां यह बता देना उचित होगा कि दो विश्वयुद्धों के बीच का एकमात्र दूसरा महत्वपूर्ण कंजर्वेटिव अंगरेज लेखक टी. एस. इलियट को भी गैर ब्रितानी पृष्ठभूमि में विकसित होने का मौका मिला था। 1914 के पहले जिस भी व्यक्ति का पालन पोषण ग्रेट ब्रिटेन में हुआ था उसका उदारवादी परंपरा से पूर्णतः मुक्त होना संभव न था.
6. 28 अगस्त, 1953 के 'दि टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' में प्रकाशित एक गुमनाम निबंध 'दि नेमिएर व्यू आफ हिस्ट्री', में नेमिएर की आलोचना करते हुए लिखा गया था : 'डार्विन के ऊपर यह आरोप लगाया गया कि उसने विश्व में से बुद्धि को निकाल फेंका था और सर लेविस एक से अधिक अर्थों में राजनीतिक इतिहास के डार्विन हैं'.
7. एल. नेमिएर : 'पर्सनालिटीज ऐंड पावरस', (1955), पृ० 5, 7.
8. मैं यहां डा. डब्ल्यू स्टार्क का आभारी हूं जिन्होंने 'मैकियावेलिज्म' शीर्षक से 1957 में छपी पुस्तक के परिचय अंश में मीनेख के ऐतिहासिक दृष्टिकोण के विकास की सुंदर व्याख्या प्रस्तुत की है यह पुस्तक मीनेख की 'दि इडिये डेर श्टाट्सरेजन' का अंग्रेजी अनुवाद है. संभवतः इसमें डा० स्टार्क ने मीनेख के तीसरे विकासकाल में अति तार्किकता के प्रभाव को बढ़ा चढ़ाकर देखा है.
9. एच. बटरफील्ड : 'दि ह्विग इंटरप्रेटेशन आफ हिस्ट्री', (1931), पृ० 67 पर लेखक स्वीकार करता है कि उसमें चीरफाड़ करने जैसे तर्कों के प्रति एक स्वस्थ अविश्वास का भाव है.

10. वही, पृ० 11, 31-32.
11. एच. बटरफील्ड : 'दि इंग्लिशमैन ऐंड हिज हिस्ट्री', (1944), पृ० 2, 4-5.
12. रोमन साम्राज्य के स्वर्णकाल में मार्कस औरलियस ने निम्नलिखित शब्दों में खुद का सांत्वना दी थी; कैसे वे सभी चीजें जो अभी घटित हो रही हैं अतीत में भी घटित हुई हैं और भविष्य में भी घटित होंगी (टु हिमसेल्फ, x, पृ० 27), सर्वविदित है, ट्वायन्बी ने ये विचार स्पेंगलर के 'डिक्लाइन आफ दि वेस्ट' से लिए थे.
13. भूमिका, 4 दिसंबर, 1934, 'ए हिस्ट्री आफ यूरोप'.
14. ऐक्टन : 'लेक्चर्स आर माडर्न हिस्ट्री', (1906), पृ० 33.
15. 'अमरीकन हिस्टारिकल रिव्यू', vi नं. 1 (जनवरी 1651), पृ० 270.
16. सी. वी. वेजवुड : 'दि किंग्स पीस', (1955), पृ० 17.
17. ए. एल. रोसे : 'दि इंग्लैंड आफ एलिजाबेथ', (1950), पृ० 261-62, 382, यहां मि० रोसे द्वारा इसके पूर्व लिखे एक लेख की ओर ध्यान दिलाना चाहूंगा जिसमें उन इतिहासकारों की भर्त्सना की है 'जो यह सोचते हैं कि 1870 के बाद फ्रांस में बूर्बान वंश फिर से साम्राज्य की स्थापना केवल इसलिए नहीं कर सका कि हेनरी पंचम का एक छोटे से सफेद झंडे के प्रति बेहद लगाव था', (दि ऐंड आफ ऐन इपोक, 1947, पृ० 275); संभवतः इस तरह की व्यक्तिगत व्याख्या डा. रोसे अंगरेजी इतिहास के लिए सुरक्षित रखते हैं.
18 आई. बर्लिन : 'हिस्टारिकल इनेविटैबिलिटी', (1954), पृ० 42.
19. आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने इस गलती को स्वीकार लिया है : 'सामूहिक रूप से मनोवैज्ञानिक व्यक्ति को सक्रिय समाज व्यवस्था के एकक के रूप में नहीं लेते बल्कि उसे एक ठोस मानव अस्तित्व मानते हैं जो समाज व्यवस्था के निर्माण के लिए अग्रसर होता है. इसलिए वे उस विचित्र व्याख्या को ज्यादा महत्व नहीं देते जिसके अनुसार उनकी श्रेणियां अमूर्त हो जाती हैं.' (प्रो. टालकाट पार्सन्स द्वारा लिखित मैक्सवेबर की पुस्तक 'दि थ्योरी आफ सोशल ऐंड इकानामिक आर्गनाइजेशन' की भूमिका, 1947, पृ० 27). देखिए फ्रायड पर टिप्पणी, प्रस्तुत पुस्तक छठा अध्याय.
20. 'होम ऐंड फारेन रिव्यू', जनवरी, 1863, पृ० 219.
21. हर्बर्ट स्पेंसर ने 'दि स्टडी आफ सोशियालोजी' के दूसरे अध्याय में अपनी गंभीर शैली में इस विचार की व्याख्या की है : 'अगर किसी व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता की आपको जांच करनी हो तो सबसे अच्छा तरीका यह होगा कि आप गौर करें वह अपनी बातचीत में किस अनुपात में साधारण तथ्यों और व्यक्तिगत तथ्यों को पेश कर रहा है अर्थात किस सीमा तक व्यक्तियों के बारे में साधारण सच्चाइयों के स्थान पर वह आदमियों और चीजों के अनगिनत अनुभवों में से निकाली गई अमूर्त सच्चाइयों को रख रहा है. और इस प्रकार जब आप काफी लोगों की बौद्धिक क्षमता की जांच कर चुकेंगे तो उनमें से गिने चुने ही ऐसे मिलेंगे जो मानव जीवन के प्रति जीवनीपरक दृष्टिकोण से अलग हटकर सोचते हों.'
22. एच. आर. ट्रेवर रोपर : 'हिस्टारिकल एजेज', (1957), पृ० 281.
23. मार्क्स एंगेल्स : गेसामटौसगावे, I, iii, पृ० 625.
24. 'हिस्ट्री आफ फ्रेंच रिवोल्यूशन', III, iii, अध्याय 1.
25. लेनिन : 'सेलेक्टेड वर्क्स', vii, पृ० 295.
26. हाब्स की पुस्तक 'लेवियाथन' (1676) में संकलित क्लैरेंडन का लेख, जिसका शीर्षक है :

'ए ब्रीफ व्यू ऐंड सर्वे आफ दि डैंजर्स ऐंड पर्नीसिअस एरर्स टु चर्च ऐंड स्टेट', पृ० 320
27. लिओ तोल्स्तोय : 'वार ऐंड पीस', IX. अध्याय 1.
28 एच. बटरफील्ड : 'दि इंग्लिशमैन ऐंड हिज हिस्ट्री', (1944) पृ० 103.
29. बी. डब्ल्यू टचमैन कृत 'दि जिमरमान टेलिग्राम', (न्यूयार्क, 1958) में उद्धृत, पृ० 180.
30. ए. जे पी. टेलर : 'फ्राम नेपोलियन टु स्टालिन , (1950), पृ० 74.
31. गिबन : 'डिक्लाइन ऐंड फाल आफ दि रोमन एंपायर', अध्याय 1xx.
32. वी. जी. चाइल्ड : हिस्ट्री (1947), पृ० 43.
33. फिलोफोसी आफ राइट (अंगरेजी अनुवाद, 1942), पृ० 295.
34. एफ. आर. लेविस : 'दि ग्रेट ट्रेडिशन', (1948), पृ० 2.
35. जे. बर्कहार्ड : 'जजमेंट आन हिस्ट्री ऐंड आन हिस्टोरियंस', (1959), पृ० 158.

3

इतिहास, विज्ञान और नैतिकता

जब मैं छोटा था तो मैं इस जानकारी से खासा प्रभावित हुआ था कि देखने में मछली जैसी लगने वाली ह्वेल दरअस्ल मछली नहीं होती। इस प्रकार के वर्गीकरण के प्रश्न अब मुझे कम प्रभावित करते हैं और जब मुझे यह विश्वास दिलाया जाता है कि इतिहास विज्ञान नहीं होता तो मैं ज्यादा परेशान नहीं होता। अंगरेजी में पारिभाषिक प्रश्नों से उलझने की एक सनक है। दूसरी हरेक भाषा में इतिहास को बिला हिचक 'विज्ञान' के अंतर्गत स्वीकार कर लिया गया है। मगर अंगरेजी-भाषी दुनिया में इस प्रश्न की एक लंबी परंपरा बन गई है और जिन मुद्दों को इसने जन्म दिया है उनमें 'इतिहास पद्धति की समस्या' का प्रश्न आसानी से जुड़ गया है।

अठारहवीं शताब्दी के अंत में, जब विज्ञान की उपलब्धियों ने विश्व के बारे में और खुद आदमी की भौतिक विशेषताओं के बारे में उसके ज्ञान को बढ़ाने में एक बड़ी भूमिका अदा की थी, यह प्रश्न उठने लगा कि क्या विज्ञान समाज के बारे में आदमी का ज्ञान नहीं बढ़ा सकता। पूरी उन्नीसवीं शताब्दी में धीरे धीरे सामाजिक विज्ञानों और उनमें इतिहास को शामिल करने की धारणा विकसित हुई। तभी से मानवीय व्यवहार का अध्ययन करने के लिए वह पद्धति अपनाई जाने लगी जिसे विज्ञान प्राकृतिक दुनिया का अध्ययन करने के लिए करता है।

इस अवधि के पूर्वार्द्ध में न्यूटन की मान्यताएं प्रचलित थीं। प्राकृतिक दुनिया की तरह समाज को भी एक तंत्र या मशीन माना जाता था। 1851 में प्रकाशित हर्बर्ट स्पेंसर की एक पुस्तक 'सोशल स्टैटिक्स' (सामाजिक स्थैतिकी) को आज भी याद किया जाता है। इसी परंपरा में पोषित बर्ट्रेंड रसेल ने बाद में इस काल का स्मरण करते हुए कहा था कि उन दिनों में उम्मीद की जाती थी कि धीरे धीरे 'मशीनों की गणित की तरह मानवीय व्यवहार का भी एक सुनिश्चित गणित होगा।'[1] तब डार्विन ने एक और वैज्ञानिक क्रांति कर डाली और समाज वैज्ञानिक, जीवविज्ञान के अनुकरण पर सोचने लगे कि समाज एक जैविक संघटना है। मगर डार्विन की क्रांति का वास्तविक महत्व इस तथ्य में था कि उसने इतिहास को विज्ञानों की कतार में ला खड़ा किया, साथ ही उसने उस काम को पूरा किया जो लायल ने भौमिकी (भूगर्भशास्त्र) में पहले से ही शुरू किया था। अब विज्ञान का स्थैतिकता या समयहीनता[2] से कोई वास्ता नहीं रह गया, बल्कि वह परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया से जुड़ गया। विज्ञान के विकास सिद्धांत ने इतिहास के

प्रगति सिद्धांत को पूर्ण और पुष्ट किया। फिर भी इतिहास के अध्ययन की आगमनात्मक पद्धति वाले दृष्टिकोण को बदलने वाली कोई घटना नहीं हुई। मैंने अपने पहले भाषण में इतिहास के इस दृष्टिकोण की चर्चा करते हुए कहा है कि पहले अपने तथ्यों को एकत्र करो, फिर उन्हें अर्थ दो। बिना किसी दुविधा के यह मान लिया गया था कि विज्ञान के अध्ययन की भी पद्धति है। जब जनवरी 1903 के अपने उद्घाटन भाषण के अंत में बरी ने कहा कि इतिहास 'एक विज्ञान है; न कम, न ज्यादा' तो बरी के मन में यही दृष्टिकोण रहा होगा। बरी के इस उद्घाटन भाषण के परवर्ती पचास वर्षों में इतिहास के इस दृष्टिकोण का तीव्र विरोध हुआ। 1930 के बाद के वर्षों में लिखते हुए कालिंगवुड ने वैज्ञानिक अध्ययन की क्षेत्र प्राकृतिक दुनिया और इतिहास की दुनिया के बीच तीखी विभाजन रेखा खींचने में पूरी तत्परता दिखाई। उन दिनों बरी के सिद्धांत की चर्चा केवल उसका मजाक उड़ाने के लिए की जाती थी। मगर इतिहासकारों ने उस समय इस बीच विज्ञान में हुए क्रांतिकारी परिवर्तन को नजरअंदाज किया और शायद बरी का सिद्धांत जितना हम समझते थे उससे कहीं ज्यादा सच था हालांकि उसके कारण गलत थे। लायल ने भौमिकी के क्षेत्र में और डार्विन ने जैविकी के क्षेत्र में जो काम किया वही अब ग्रह विज्ञान के क्षेत्र में सही साबित हो रहा है। ग्रह विज्ञान अर्थात यह विश्व आज की स्थिति में कैसे पहुंचा इसकी खोज करने वाले आधुनिक ग्रह वैज्ञानिक हमें बताते हैं कि वे तथ्यों को नहीं, घटनाओं की खोज करते हैं। सौ साल पहले की अपेक्षा आज इतिहासकार के पास विज्ञान की दुनिया में सहज अनुभव करने का कुछ बहाना तो है।

आइए पहले हम 'नियम' की धारणा की व्याख्या करें। पूरी अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिकों की धारणा थी कि प्राकृतिक नियमों, जैसे न्यूटन का गति नियम, आकर्षण शक्ति का नियम, बायल का विकास नियम वगैरह, का आविष्कार कर लिया गया है और वे पूर्ण रूप से स्थापित वैज्ञानिक नियम बन चुके हैं और वैज्ञानिकों का काम है कि वे अध्ययन से प्राप्त तथ्यों के आधार पर निगमनात्मक पद्धति से इसी प्रकार के दूसरे नियमों की स्थापना करें। 'नियम' शब्द गैलिलियो और न्यूटन के जमाने से ही शोहरत का हकदार बना चला आ रहा था। समाज के विद्यार्थियों ने ज्ञात या अज्ञात रूप से अपने अध्ययन को विज्ञान का दर्जा दिलाने की उत्सुकतावश उसी तरह की भाषा का इस्तेमाल किया और विश्वास करते रहे कि वे उसी वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग कर रहे हैं। इस क्षेत्र में पहलकदमी की राजनीतिक अर्थशास्त्रियों ने और ग्रेशम नियम, ऐडम स्मिथ का बाजार नियम, आदि सामने आए। बर्क ने 'वाणिज्य के नियमों, जो प्रकृति के नियम और अंततः ईश्वरीय नियम हैं'[3] की ओर ध्यान आकर्षित किया। माल्थस ने जनसंख्या के नियम, लैसेल ने मजदूरी के लौह नियम का प्रतिपादन किया और मार्क्स ने

अपनी पुस्तक 'कैपिटल' की भूमिका में दावा किया कि उसनें आधुनिक समाज की प्रतिशीलता के आर्थिक नियम का आविष्कार किया है। बकल ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ सिविलाइजेशन' (सभ्यता का इतिहास) के अंत में अपनी मान्यता घोषित की कि मानवीय व्यवहार का इतिहास 'एक विश्वजनीन और सुनिश्चित एकरूपता के सिद्धांत से ओतप्रोत' रहा है। आज यह शब्दावली जितनी प्रगल्भता-पूर्ण है उतनी ही पुरानी प्रतीत होती है। किंतु यह भौतिक विज्ञानी को उतनी ही पुरानी लगती है जितनी समाज विज्ञानी को। बरी ने जिस वर्ष अपना उद्घाटन भाषण दिया था उसके एक वर्ष पहले फ्रांसीसी गणितज्ञ हेनरी पोइंकेर ने 'ला सियोंस एल इपोतेज' (विज्ञान और परिकल्पना) शीर्षक से एक छोटी सी पुस्तक प्रकाशित की जिसने वैज्ञानिक चिंतन में एक क्रांति ला दी। पाइंकेर का मुख्य प्रतिपाद्य यह था कि वैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित सामान्य सिद्धांत, जहां वे मात्र परिभाषा या भाषा से संबंधित प्रच्छन्न और परंपरित प्रयोग नहीं हैं, ऐसी अव-धारणाएं या अनुमानाश्रित कल्पनाएं हैं जो आगे के चिंतन को स्पष्ट और संगठित करती हैं और संशोधित, परिवर्तित या तिरस्कृत की जा सकती हैं। यह सब अब बहुत सामान्य लगता है। न्यूटन की गर्वोक्ति 'इपोतेज नो फिंगो' आज खोखली लगती है। हालांकि आज भी वैज्ञानिक, यहां तक कि समाजविज्ञानी भी, पुराने दिनों की बात करते हैं मगर आज उनके अस्तित्व पर उन्हें वैसी आस्था नहीं है जैसी अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के सारे विश्व के वैज्ञानिक उन पर आस्था रखते थे। यह स्वीकार किया जाता है कि वैज्ञानिक आविष्कार करते हैं और नया ज्ञान प्राप्त करते हैं लेकिन इसके लिए वे सूक्ष्म और युक्तियुक्त नियमों की स्था-पना नहीं करते बल्कि ऐसी कल्पनाओं अथवा अनुमानों का प्रतिपादन करते हैं जिनसे गवेषणा के नए आयाम खुलते हैं। दो अमरीकी दार्शनिकों द्वारा लिखित वैज्ञानिक पद्धति की एक स्तरीय पाठ्यपुस्तक में विज्ञान की पद्धति को 'आवश्यक रूप से वृत्ताकार' बताया गया है: 'हम सिद्धांतों के लिए अनुभवसिद्ध स्रोतों से जिन्हें 'तथ्य' भी कहा जाता है, प्रमाण प्राप्त करते हैं; और फिर हम अनुभवसिद्ध स्रोतों से चुनकर तथ्यों का परीक्षण करके सिद्धांतों के आधार पर उनकी व्याख्या करते हैं।'[4]

इस पद्धति के लिए 'वृत्ताकार' की जगह 'अन्योन्याश्रित' शब्द ज्यादा उप-युक्त होता क्योंकि इस प्रक्रिया की परिणति उसी स्थान पर वापसी नहीं है बल्कि सिद्धांत और तथ्य, मत और प्रयोग के पारस्परिक घात-प्रतिघात से नए आविष्कारों की ओर संचरण करना है। प्रत्येक प्रकार के चिंतन में हम कुछ पूर्व धारणाएं स्वी-कार करके चलते हैं परंतु ये धारणाएं वैज्ञानिक चिंतन में तभी सहायक होती हैं, जब इनका आधार पर्यवेक्षण हो। चिंतन के आलोक में इनमें संशोधन होने की पूरी गुंजाइश होती है। ये अनुमान किन्हीं संदर्भों में यदि मान्य हैं तो किन्हीं दूसरे

संदर्भों में अमान्य भी हैं। प्रत्येक मामले में इनकी परीक्षा का आधार प्रत्यक्ष अनुभव ही है कि क्या ये हमें नई अंतर्दृष्टि देने में और हमारा ज्ञान बढ़ाने में समर्थ हैं। रदरफोर्ड की पद्धति का उसके एक मेधावी शिष्य तथा सहकर्मी ने हाल ही में वर्णन किया है :

> आणविक क्रिया को जानने की उनकी आंतरिक इच्छा वैसी ही थी जैसे किसी भी आदमी में यह जानने की इच्छा होती है कि रसोईघर में क्या पक रहा है। मैं यह नहीं मानता कि वह शास्त्रीय प्रतिपादन के ढंग पर किन्हीं आधारभूत नियमों के आधार पर कोई व्याख्या पा लेना चाहते थे बल्कि इनके संतोष के लिए इतना काफी था कि जो कुछ हो रहा है उसकी जानकारी उन्हें मिलती रहे।[5]

उपरोक्त विवरण उस इतिहासकार पर भी सटीक बैठता है, जिसने आधारभूत नियमों की खोज करना छोड़ दिया है और चीजें कैसे घटित हो रही हैं, इसकी जानकारी पाकर संतुष्ट हैं।

इतिहासकार द्वारा अपनी खोज में प्रयुक्त अनुमानों की ठीक वही अवस्थिति है जो वैज्ञानिक द्वारा प्रयुक्त अनुमानों की होती है। उदाहरण के लिए मैक्स वेबर द्वारा प्रोटेस्टेंटवाद और पूंजीवाद के बीच के संबंधों के प्रसिद्ध विश्लेषण को लें। आज उसे कोई भी नियम नहीं कहेगा हालांकि पूर्ववर्ती काल में भले ही वैसा मानकर वेबर की प्रशंसा की गई हो। यह भी एक अनुमान ही है फिर भी निश्चय ही इन दोनों आंदोलनों की हमारी समझ को बढ़ाता है। हालांकि इस अनुमान को उसके द्वारा उठाए गए प्रश्नों के आलोक में एक सीमा तक संशोधित किया गया है। हम मार्क्स का एक ऐसा ही वाक्य और लें : 'हाथ की चक्की हमें एक समाज देती है जहां सामंत होता है और भाप की चक्की हमें एक दूसरा समाज देती है जहां औद्योगिक पूंजीपति होता है।'[6] आधुनिक शब्दावली में यह नियम नहीं है, हालांकि मार्क्स संभवतः ऐसा दावा कर सकते थे, बल्कि यह एक सारगर्भित और फलप्रद अनुमान है जो नई समझ और नई खोज की ओर ले जाता है। ऐसे अनुमान विचार के अनिवार्य रूप से आवश्यक औजार हैं। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक के आरंभिक वर्षों के प्रसिद्ध जर्मन अर्थशास्त्री वार्नर सोंबर्ट ने स्वीकार किया था कि उन लोगों के मन में, जिन्होंने मार्क्सवाद का परित्याग कर दिया था, एक 'आंतरिक संघर्ष की भावना' थी। उसने लिखा है कि 'जब हमारे सुविधाप्रद फार्मूले खो जाते हैं जो जीवन की जटिलताओं के बीच रास्ता दिखाते रहे हैं तो…हम तथ्यों के महासागर में डूबने लगते हैं, और तब तक डूबते रहते हैं जब तक हम एक नया ठीहा नहीं पा जाते या तैरना नहीं सीख जाते।'[7]

इतिहास में काल विभाजन का विवाद इसी श्रेणी में आता है। इतिहास को विभिन्न कालों में विभाजित करना कोई तथ्य नहीं है, बल्कि एक आवश्यक अनु-

मान या विचार करने का औजार है। यह अगर दृष्टि देता है तो मान्य है और उसकी मान्यता का आधार व्याख्या है। वे इतिहासकार जो मध्य युग की समाप्ति पर मतभेद रखते हैं दरअस्ल किन्हीं घटनाओं की व्याख्या पर भिन्न मत रखते हैं। यहां प्रश्न तथ्याश्रयी नहीं है, फिर भी अर्थहीन नहीं है। इतिहास को भौगोलिक खानों में विभाजित करना भी तथ्य नहीं है, बल्कि अनुमान है। यूरोपीय इतिहास की बात करना किन्हीं संदर्भों में फलप्रद और मान्य अनुमान हो सकता है, मगर किन्हीं दूसरे संदर्भों में दुष्टतापूर्ण और भटकाने वाला भी हो सकता है। इतिहासकार के पूर्वग्रहों का उसके अनुमान के चुनाव के आधार पर पता लग जाता है। समाज विज्ञान की पद्धति पर एक सामान्य उक्ति को उद्धृत करना मुझे आवश्यक लग रहा है, क्योंकि यह एक महान समाज विज्ञानी की उक्ति है जिसका प्रशिक्षण भौतिक विज्ञानी के रूप में हुआ था। अपने जीवन को चार दशक तक इंजीनियरी कार्यों में लगे रहने वाले और बाद में सामाजिक समस्याओं पर लेखन प्रारंभ करने वाले जार्ज सोरेल ने इस बात पर जोर दिया है कि किसी भी स्थिति के विशेष तत्वों को छांटकर अलग कर लेना चाहिए, भले ही ऐसा करने में अतिसरलीकरण के खतरे उठाने पड़ें। उसने लिखा : 'अपना रास्ता टटोलते हुए आगे बढ़ना चाहिए; संभावित और आंशिक अनुमानों के आधार पर कोशिश करनी चाहिए और अस्थाई तथा निकटस्थ नतीजों से संतोष कर लेना चाहिए, जिससे उत्तरोत्तर सुधार के लिए दरवाजा खुला रह सके।'[8]

उन्नीसवीं सदी की मान्यताओं से उपरोक्त मान्यता कितनी अलग है। उन दिनों वैज्ञानिक तथा ऐक्टन जैसे इतिहासकार ऐसे दिन का इंतजार कर रहे थे जब वे पूर्णतः प्रमाणित तथ्यों का एक ऐसा भंडार संचित कर लेंगे जिसके आधार पर ज्ञान का एक सरल ढांचा खड़ा हो जाएगा और जो सभी विवादास्पद मुद्दों पर अंतिम निष्कर्ष तक पहुंचा देगा। आजकल वैज्ञानिक तथा इतिहासकार एक आंशिक अनुमान से दूसरे तक प्रगति करने की अपेक्षाकृत सीमित आशा को ही अपना उद्देश्य बनाते हैं। आंशिक अनुमानों के आधार पर आगे बढ़ते हुए, जांच के माध्यम से उसके तथ्यों को अलगाते हुए और तथ्यों से उनकी व्याख्या को परखते हुए, वे ऐसे तरीके काम में लाते हैं जो मुझे मूलतः भिन्न नहीं प्रतीत होते। मैंने अपने प्रथम भाषण में प्रोफेसर बैरकलो के इस वक्तव्य को उद्धृत किया था कि इतिहास 'एकदम तथ्यपरक नहीं होता, बल्कि स्वीकृत निर्णयों का एक क्रम होता है।' मैं जब यह भाषण तैयार कर रहा था तो इस विश्वविद्यालय के एक भौतिक विज्ञानी ने बी० बी० सी० से प्रसारित अपनी वार्ता में वैज्ञानिक सत्य की परिभाषा बताते हुए कहा कि 'वह एक वक्तव्य होता है, जो सार्वजनिक रूप से विशेषज्ञों द्वारा स्वीकृत हो।'[9] इन फार्मूलों में से एक भी पूर्णतः संतोषजनक नहीं है, जिसके कारणों पर मैं वस्तुपरकता के प्रश्न पर बातचीत करते समय विचार करूंगा।

किंतु किसी समस्या का समाधान खोजते हुए जब एक इतिहासकार और एक भौतिक विज्ञानी प्राय: समान शब्दों में समान विचार व्यक्त करते हैं तो हमारा ध्यान उधर आकर्षित होता है।

किसी भी असावधान व्यक्ति के लिए समानताएं खतरनाक जाल साबित हो सकती हैं। कुछ लोगों का विश्वास है कि इतिहास और विभिन्न विज्ञानों के बीच एक आधारभूत अंतर है। यों यह अंतर विज्ञान की एक शाखा से दूसरी शाखा के बीच भी है, जैसे गणित और प्रकृति विज्ञानों के बीच। इसी आधारभूत अंतर के कारण इतिहास को, और संभवत: अन्य तथाकथित सामाजिक विज्ञानों को, विज्ञान कहना भ्रमात्मक हो जाता है। मैं इस विश्वास के तर्कों पर आदरपूर्वक विचार करना चाहूंगा। इतिहास को विज्ञान का नाम देने के विरुद्ध निम्नलिखित आपत्तियां, जिनमें से दूसरों की अपेक्षा कुछ अधिक युक्तियुक्त लगती हैं, संक्षेप में यों हैं: (1) इतिहास मुख्य रूप से विशिष्ट को अध्ययन का विषय बनाता है, जबकि विज्ञान सामान्य को, (2) इतिहास कोई सबक नहीं सिखाता, (3) इतिहास की पूर्वकल्पना नहीं की जा सकती, (4) इतिहास, विज्ञान के विपरीत, धर्म और नैतिकता के प्रश्नों से संबद्ध होता है। मैं बारी बारी से इन प्रश्नों की समीक्षा करने का प्रयास करूंगा।

सर्वप्रथम आरोप यह है कि इतिहास विशिष्ट तथा असाधारण का अध्ययन करता है जबकि विज्ञान विश्वजनीन और सामान्य का। इस मत का आरंभ अरस्तू से कहा जा सकता है जिसने घोषणा की थी कि काव्य इतिहास की अपेक्षा कहीं 'अधिक गंभीर' और 'अधिक दार्शनिकतापूर्ण' होता है क्योंकि काव्य का विषय सामान्य सत्य होता है, जबकि इतिहास का विशिष्ट सत्य।[10] कालिंगवुड[11] तक अनेकानेक परवर्ती लेखकों ने इतिहास और विज्ञान के बीच इसी तरह का पार्थक्य दर्शाया। यह मत एक विभ्रम पर आधारित है। हाब्स का यह प्रसिद्ध कथन आज भी युक्तियुक्त लगता है: 'इस विश्व में नामों के अलावा कुछ भी सार्वभौमिक नहीं है क्यों कि उन चीजों में से हरेक, जिन्हें नाम दिए जाते हैं व्यक्तिपरक और विशिष्ट होती हैं।'[12] यह कथन भौतिक विज्ञानों के लिए सटीक है, क्योंकि कोई दो भूगर्भ पदार्थ, एक ही जाति के कोई दो पशु और कोई दो अणु एकदम समान नहीं होते। इसी तरह कोई दो ऐतिहासिक घटनाएं भी एकदम समान नहीं होतीं। परंतु ऐतिहासिक घटनाओं की असाधारणता या विशिष्टता पर जरूरत से ज्यादा जोर देना उतना ही विनाशकारी प्रभाव उत्पन्न करता है जितना विशप बटलर से प्राप्त मूर के इस आप्त वाक्य ने किया था और जो एक समय भाषा वैज्ञानिक दार्शनिकों का प्रिय कथन था कि 'हर चीज वही है, जो वह है, और उससे भिन्न कुछ नहीं है।' इस तर्क को प्रश्रय देने पर जल्दी ही आप एक ऐसा दार्शनिक 'निर्वाण' पा लेते हैं, जहां किसी भी चीज के बारे में कुछ भी कहना कठिन हो जाता है।

भाषा का प्रयोग करते ही वैज्ञानिक की तरह ही इतिहासकार भी सामान्यीकरण करने को बाध्य हो जाता है। पिलोपोनेशिया युद्ध और द्वितीय विश्वयुद्ध एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न थे और दोनों ही विशिष्ट थे। मगर इतिहासकार इन दोनों को युद्ध कहता है, और कोई कठमुल्ला ही इस पर ऐतराज करेगा। गिबन ने जब ईसाई धर्म की स्थापना और इस्लाम के उत्थान को क्रांति की संज्ञा दी थी[13], तो उसने दो विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाओं का सामान्यीकरण ही किया था। आधुनिक इतिहासकार भी जब इंग्लिस्तानी, फ्रांसीसी, रूसी और चीनी क्रांति की चर्चा करते हैं तो इसी तरह का सामान्यीकरण करते हैं। इतिहासकार वस्तुत: असामान्य या विशिष्ट में रुचि नहीं रखता, वह विशिष्ट के भीतर स्थित सामान्य में रुचि रखता है। बीसवीं सदी के तीसरे दशक में 1914 के विश्वयुद्ध के कारणों की चर्चा करते हुए तत्कालीन इतिहासकार इस अनुमान पर आगे बढ़ रहे थे कि इसका वास्तविक कारण या तो उन राजनीतिविदों की अव्यवस्था थी जिनकी गतिविधियां जनमत द्वारा संयमित नहीं होती थीं और गुप्त रूप से चलती रहती थीं, या फिर सीमाबद्ध स्वायत्त राष्ट्रों के रूप में विश्व का दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन इसका कारण था। चौथे दशक में यह अनुमान चर्चा का विषय बना कि इसका कारण उन साम्राज्यवादी शक्तियों की आपसी प्रतिद्वंद्विता थी जो पूंजीवाद की पतनोन्मुखता के दबाव द्वारा प्रेरित होकर पूरे विश्व को आपस में बांट लेना चाहती थीं। ये चर्चाएं युद्ध के सामान्यीकृत कारणों से संबद्ध थीं या फिर बीसवीं सदी की परिस्थितियों में युद्ध के संभावित कारणों से संबद्ध थीं। अपने प्रमाणस्रोत की परीक्षा के लिए इतिहासकार हमेशा सामान्यीकरण का सहारा लेता है। अगर उसके पास स्पष्ट प्रमाण नहीं है कि रिचर्ड ने मीनार (टावर) में राजकुमारों की हत्या की थी, तो इतिहासकार खुद से प्रश्न करेगा और संभवत: ऐसा प्रश्न वह सजग भाव से नहीं बल्कि असजग भाव से करेगा कि क्या ऐसा नहीं है कि राजगद्दी के अपने प्रतिद्वंद्वियों को जान से मार देना तत्कालीन शासक वर्ग की आदत रही हो। और उसका निष्कर्ष इस सामान्य तथ्य से प्रभावित होगा जो उचित है।

इतिहास का लेखक ही नहीं पाठक भी सामान्यीकरण का पुराना रोगी होता है। वह इतिहासकार के अभिमत को उन दूसरे ऐतिहासिक संदर्भों पर लागू करता है जिनसे वह परिचित होता है, या फिर उसे अपने खुद के युग पर लागू करता है। मैं जब कार्लायल द्वारा लिखित 'फ्रेंच रिवोल्यूशन' पढ़ता हूं तो उसके कथनों को अपनी विशेष रुचि के विषय रूसी क्रांति पर खुद को लागू करते पाता हूं। संत्रास से संबद्ध उसके कथन को लें : यह संत्रास 'उन देशों के लिए भयानक था, जहां बराबरी का न्याय मिलता था मगर दूसरे देशों के लिए यह उतना स्वाभाविक नहीं था, जहां के निवासियों को बराबर का न्याय कभी नहीं मिला था।'

या यह कथन, जो कहीं अधिक महत्वपूर्ण है : 'यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण मगर

बहुत स्वाभाविक है कि इस काल का इतिहास सामान्यतः चीत्कारपूर्ण शैली में लिखा गया है। अतिशयोक्तिपूर्ण, आंसू, रुदन और पूर्णतः अंधकार से आच्छन्न।'[14]

या सोलहवीं शताब्दी में आधुनिक राज्य के विकास के बारे में बर्कहार्ट का एक कथन लें :

> शक्ति का उदय जितना ही निकट अतीत का होगा, उसमें स्थायित्व उतना ही कम होगा प्रथम, इसलिए कि जिन्होंने इसको जन्म दिया है, वे तीव्र अग्रगामिता के आदी हो चुके हैं और इसलिए कि वे नवनिर्माणकर्ता हैं और भविष्य में भी रहेंगे; द्वितीय, वे शक्तियां, जिनको उन्होंने उभारा या परास्त किया है, इसीलिए हिंसा के भावी कार्यों में ही लगाई जा सकती हैं।[15]

यह कहना गलत है कि सामान्यीकरण इतिहासेतर बात है। दरअस्ल इतिहास सामान्यीकरण से ही अपनी खुराक पाता है। जैसा कि नई 'कैंब्रिज माडर्न हिस्ट्री' में एल्टन ने स्वीकार किया है : 'इतिहासकार को ऐतिहासिक तथ्यों के इकट्ठा करने वाले से अलग करने वाली चीज है सामान्यीकरण।'[16] उसे यह भी कहना चाहिए था कि यही चीज (सामान्यीकरण) प्रकृति विज्ञानी को प्रकृति प्रेमी या प्राकृतिक नमूने इकट्ठा करने वाले से अलग करती है। मगर इससे यह भी नहीं मान लेना चाहिए कि सामान्यीकरणों से हम इतिहास की कोई विशद योजना बना सकते हैं, जिसमें विशिष्ट घटनाएं निश्चित रूप से फिट की जा सकें। चूंकि मार्क्स उनमें से एक है, जिन पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे ऐसी योजना का निर्माण करते हैं, या ऐसी योजना के निर्माण पर विश्वास रखते हैं, अतः मैं अंत में उन्हीं के एक पत्र का अंश उद्धृत करना चाहूंगा जो इस मामले को सही परिप्रेक्ष्य में देखने में हमारी मदद करेगा :

> ऐसी ऐतिहासिक घटनाएं, जो ऊपरी तौर पर बेहद समान होती हैं, लेकिन भिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में घटती हैं, हमारे सामने पूर्णतया भिन्न नतीजे पेश करती हैं। इन दोनों विकासक्रमों का अलग अलग अध्ययन करने के बाद यदि हम उनकी तुलना करें तो हम इसको समझने में सहायक सूत्रों को पकड़ सकेंगे। मगर हम किसी इतिहास दर्शन के बने बनाए सिद्धांत को, जिसका एकमात्र गुण है इतिहास से भी बड़ा दिखना, इन विकासक्रमों पर लागू करके नहीं समझ सकते।[17]

विशिष्ट से सामान्य का संबंध भी इतिहास का अध्ययन क्षेत्र है। एक इतिहासकार के रूप में आप उन्हें एक दूसरे से उसी प्रकार अलग नहीं कर सकते या एक को दूसरे से ज्यादा महत्व नहीं दे सकते जैसे आप तथ्यों से व्याख्या को न अलग कर सकते हैं और न ही इनमें से एक को कम या ज्यादा महत्व दे सकते हैं।

यहीं पर इतिहास और समाजशास्त्र के संबंध पर संक्षिप्त वक्तव्य देना

उचित है। आजकल समाजशास्त्र के सामने दो परस्पर विरोधी खतरे हैं, एक अतिसैद्धांतिक हो जाने का और दूसरा अति अनुभववादी हो जाने का। पहला खतरा है समाज के सामान्य स्वरूप के बारे में किए गए भावप्रधान तथा अर्थहीन सामान्यीकरणों के जाल में उलझ जाने का। समाज को सबसे ऊपर रखकर देखना भी उतना ही भ्रामक है जितना इतिहास को सबसे ऊपर रखकर देखना। इस खतरे को और पास लाने वाले वे लोग हैं जो समाजशास्त्र को इतिहास द्वारा लिपिबद्ध विशिष्ट घटनाओं के आधार पर सामान्यीकरण की छूट दे देते हैं। संकेत तो यह भी दिया गया है कि समाजशास्त्र इतिहास की तुलना में ज्यादा महत्वपूर्ण होता है क्योंकि इसके अपने नियम होते हैं।[18] दूसरा खतरा वह था जिसका पूर्वाभास कार्ल मैनहीम को एक पीढ़ी पहले ही हो गया था और जो आज भी उतना ही सच है और वह है समाजशास्त्र का सामाजिक पुनर्गठन के सूक्ष्म तकनीकी टुकड़ों में बंट जाना।[19] समाजशास्त्र का सरोकार ऐतिहासिक समाजों से होता है जिनमें से हरेक असामान्य होता है तथा विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाओं और स्थितियों का प्रतिफल होता है। परंतु सामान्यीकरण से बचने की कोशिश करना और खुद को गणना और व्याख्या की तथाकथित तकनीकी समस्याओं में सीमित करके समाज की व्याख्या करना एक स्थिर समाज का अचेतन रूप से पैरवीकार होना है। समाजशास्त्र को अगर अध्ययन का सफल क्षेत्र बनना है तो निश्चय ही इतिहास की तरह उसे असामान्य और सामान्य के संबंधों से सरोकार रखना होगा। उसे गतिशील भी होना होगा अर्थात उसे स्थिर समाज का अध्ययन नहीं होना है (क्योंकि ऐसा कोई समाज अस्तित्व में नहीं है) बल्कि सामाजिक परिवर्तन और विकास का अध्ययन होना है। शेष के लिए मैं सिर्फ इतना कहूंगा कि इतिहास जितना समाजशास्त्रीय होगा और समाजशास्त्र जितना ही ऐतिहासिक होगा, दोनों के लिए बेहतर होगा। उन दोनों के बीच की सीमाओं को दोनों ओर के आवागमन के लिए खुला रखना होगा।

सामान्यीकरण का प्रश्न मेरे दूसरे प्रश्न के साथ निकट से जुड़ा हुआ है। सामान्यीकरण का वास्तविक मुद्दा यह है कि इसके माध्यम से हम इतिहास से सीखने की कोशिश करते हैं, घटनाओं के एक सेट से प्राप्त ज्ञान को हम घटनाओं के दूसरे सेट पर लागू करना सीखते हैं और जब हम सामान्यीकरण करते हैं तो सचेत या अचेत रूप से हम यह काम कर रहे होते हैं। जो लोग सामान्यीकरण का तिरस्कार करते हैं और इस बात पर जोर देते हैं कि इतिहास का सरोकार मुख्यत: असामान्य या विशिष्ट से होता है, वे सही मायनों में ऐसे लोग हैं जो इससे इनकार करते हैं कि इतिहास से कुछ सीखा जा सकता है। लेकिन यह मान्यता कि आदमी इतिहास से कुछ नहीं सीखता, अनेकानेक दृश्यमान तथ्यों द्वारा गलत सिद्ध होती है। यह एक सामान्य अनुभव है। 1919 में ब्रिटिश शिष्टमंडल के एक

कनिष्ठ सदस्य के रूप में मैं पेरिस शांति अधिवेशन में मौजूद था। शिष्टमंडल का प्रत्येक सदस्य विश्वास करता था कि हम वियना कांग्रेस से कुछ सीख सकते हैं, जो प्राय: सौ वर्ष पहले का यूरोप का सबसे बड़ा और अंतिम शांति अधिवेशन था। उन दिनों के 'वार आफिस' के कर्मचारी कप्तान वेब्स्टर ने, जो आज के प्रसिद्ध इतिहासकार सर चार्ल्स वेब्स्टर हैं, एक लेख लिखकर हमें उन शिक्षाओं के बारे में बताया जो हम वियना कांग्रेस से सीख सकते थे। उनमें से दो सीखें मुझे आज भी याद हैं। एक यह थी कि यूरोप के नक्शे को फिर से खींचते समय आत्मनिर्णय के सिद्धांत को भूल जाना खतरनाक था। दूसरी शिक्षा यह थी कि अपने गुप्त कागजात रद्दी की टोकरी में डालना खतरनाक है क्योंकि उसे किसी दूसरे शिष्टमंडल का खुफिया विभाग निश्चय ही खरीद लेगा। इतिहास की शिक्षाएं हमने आप्त वाक्य मानकर स्वीकार कर लीं और इन्होंने हमारे व्यवहार को प्रभावित किया। यह उदाहरण हाल का है और बेहद मामूली है परंतु अपेक्षाकृत पुराने इतिहास में उससे और भी पुराने इतिहास की शिक्षाओं का असर हम देख सकते हैं। रोम पर प्राचीन ग्रीक के प्रभाव को हर आदमी जानता है। मगर मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि किसी इतिहासकार ने उन शिक्षाओं का सूक्ष्म विवेचन किया है या नहीं, जो रोमन जाति ने हेलास के इतिहास से सीखीं या विश्वास करते थे कि उन्होंने सीखीं। सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों के पश्चिमी यूरोप ने ओल्ड टेस्टामेंट के इतिहास से क्या शिक्षाएं ग्रहण कीं इसकी परीक्षा करने पर बड़े दिलचस्प नतीजे निकल सकते हैं। इंग्लिस्तान के प्युरिटन रिवोल्यूशन (पवित्रतावादी क्रांति) को इसके अभाव में समझा नहीं जा सकता। 'चुने हुए लोगों' वाली अवधारणा वस्तुत: आधुनिक राष्ट्रवाद के उद्भव के पीछे काम करने वाला एक महत्वपूर्ण कारण थी। ग्रेट ब्रिटेन के शासक वर्ग पर शास्त्रीय शिक्षा का प्रभाव उन्नीसवीं सदी में काफी गहरा था। जैसा मैंने पहले ही इंगित किया है ग्रोटे ने नए गणतंत्र के माडल के रूप में एथेंस की ओर इशारा किया था और मैं चाहता हूं कि एक ऐसा अध्ययन प्रस्तुत किया जाए जिसमें यह देखा जाए कि रोमन साम्राज्य के इतिहास से ब्रिटिश साम्राज्य निर्माताओं ने सचेत अथवा अचेत रूप में कौन सी महत्वपूर्ण और विस्तृत शिक्षाएं ग्रहण कीं। मेरे अपने विशेष अध्ययन क्षेत्र में रूसी क्रांति के निर्माता फ्रांसीसी क्रांति, 1848 की क्रांति और 1871 के पेरिस कम्यून से प्राप्त शिक्षाओं से अभिभूत होने की सीमा तक प्रभावित थे। इतिहास से शिक्षा ग्रहण करना एकमुखी प्रक्रिया नहीं है। वर्तमान को अतीत की रोशनी में देखने का अर्थ है अतीत को वर्तमान की रोशनी में देखना। इतिहास का कार्य है वर्तमान और अतीत के पारस्परिक संबंधों के माध्यम से दोनों की ओर गहरी समझ प्रस्तुत करना।

मेरा तीसरा मुद्दा है इतिहास में पूर्वधारणा की भूमिका। कहा जाता है कि

इतिहास से कोई भी शिक्षा ग्रहण करना संभव नहीं है क्योंकि इतिहास विज्ञान के विपरीत, भविष्य के बारे में नहीं बता सकता। यह प्रश्न ढेर सारी गलतफहमियों में उलझ गया है। जैसा हम देखते हैं, प्रकृति के नियमों के बारे में वैज्ञानिक आज पहले जैसी उत्सुकता से बातें नहीं करते। विज्ञान के तथाकथित नियम जो हमारे जीवन को प्रभावित करते हैं दरअस्ल प्रवृत्तियों के वक्तव्य हैं। क्या होगा इसके वक्तव्य हैं, अगर और सारी चीजें बराबर या परीक्षण की हालत में रहें। वे इसकी भविष्यवाणी का दावा नहीं करते कि विशेष स्थितियों में क्या होगा। गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत से यह सिद्ध नहीं होता कि वह खास सेब पेड़ से नीचे ही गिरेगा, हो सकता है कोई उसे डोलची में लपक ले। प्रकाश विज्ञान का नियम कि प्रकाश सीधी रेखा में संचरण करता है, यह प्रमाणित नहीं करता है कि प्रकाश की कोई किरण अपने रास्ते से मोड़ी नहीं जा सकती या बीच में किसी वस्तु के आ जाने से बिखर नहीं सकती। मगर इसका यह अर्थ भी नहीं है कि ये नियम बेकार हैं और सिद्धांत रूप से अमान्य हैं। हमें बताया जाता है कि आधुनिक भौतिक सिद्धांत घटित होती हुई घटनाओं की संभावनाओं का विश्लेषण करते हैं। आज विज्ञान इसे याद रखने को ज्यादा तैयार है कि आगमन पद्धति तर्कपूर्ण रीति से संभावनाओं की ओर ले जाती है या युक्तियुक्त विश्वास की ओर और अपनी घोष्रणाओं को सामान्य नियम या पथ निर्देशक के रूप में प्रस्तुत करने को ज्यादा उत्सुक है, जिसकी प्रामाणिकता किसी विशिष्ट क्रिया से ही साबित हो सकती है। जैसा कोम्टे का मत है कि 'विज्ञान से दूरदृष्टि' बढ़ती है जिससे क्रिया को गति मिलती है।[20] इतिहास में पूर्वधारणा के प्रश्न का समाधान सामान्य और विशिष्ट, सार्वभौमिक और अद्वितीय के अंतर में निहित है। हम देख चुके हैं इतिहासकार सामान्यीकरण करने को बाध्य है और ऐसा करके वह भावी क्रिया के लिए साधारण निर्देश तैयार करता है। ये सामान्यीकरण यद्यपि पूर्वधारणाएं या भविष्यवाणियां नहीं होते, बल्कि उपयोगी और मान्य होते हैं। परंतु वे विशिष्ट घटनाओं की भविष्यवाणी नहीं कर सकते क्योंकि विशिष्ट घटनाएं ही अद्वितीय कही जाती हैं जिनमें संयोग का तत्व शामिल होता है। दार्शनिकों को विचलित करने वाला यह अंतर साधारण व्यक्ति की समझ में सहज ही आ जाता है। अगर किसी स्कूल में दो तीन बच्चों को चेचक हो जाए, तो आप धारणा बनाएंगे कि चेचक की महामारी फैलेगी। इस पूर्वधारणा या भविष्यवाणी (अगर आप कहना चाहें) का आधार अतीत के अनुभवों के आधार पर किया गया सामान्यीकरण है और क्रिया का मान्य तथा उपयोगी निदेशक है। मगर आप कोई निश्चित भविष्यवाणी नहीं कर सकते कि चार्ल्स या मैरी को चेचक होगा। इतिहासकार इसी तरह आगे बढ़ता है। लोग इतिहासकार से यह आशा नहीं करते कि वह इस तरह की भविष्यवाणियां करेगा जैसे अगले महीने रूरिटानिया में क्रांति शुरू हो जाएगी। अंशतः

रूरिटानिया के राजनीतिक मामलों की अपनी विशेष जानकारी के आधार पर और अंशतः इतिहास के अध्ययन से वह केवल इस नतीजे पर पहुंचेगा कि रूरिटानिया में ऐसी स्थिति बनी हुई है कि निकट भविष्य में ऐसी क्रांति वहां हो सकती है, अगर कोई उसे उभार दे, या अगर सरकारी पक्ष का कोई अधिकारी इसे रोकने की इस बीच कार्रवाई न कर ले। और इस निष्कर्ष के साथ वह कुछ तखमीने प्रस्तुत करेगा, जिनका आधार दूसरी क्रांतियां और आबादी के विभिन्न तबकों द्वारा क्रांति के प्रति अपनाया गया रुख होगा। इसे यदि आप भविष्यवाणी या पूर्वधारणा कहें तो इनका उत्स अद्वितीय या असामान्य घटनाओं का घटनाक्रम होगा, जिनकी भविष्यवाणी करना संभव नहीं होता। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि इतिहास से भविष्य के बारे में प्राप्त धारणाएं बेकार होती हैं या कि उनकी कोई ऐसी आपेक्षिक मान्यता नहीं होती, जिससे चीजों के घटित होने की हमारी समझ बढ़ती है और जो हमारी क्रियाओं की निदेशक होती है। मेरा इरादा यह संकेत करने का नहीं है कि समाजशास्त्री और इतिहासकार के निष्कर्ष भौतिक विज्ञानी के समान ही सूक्ष्म और सटीक होंगे या कि इस संदर्भ में भौतिक विज्ञानी की तुलना में इनकी अक्षमता का कारण यह है कि भौतिक विज्ञान की तुलना में सामाजिक विज्ञान ज्ञान के क्षेत्र में पिछड़े हुए हैं। जहां तक हम जानते हैं किसी भी दृष्टिकोण से मानव अत्यंत जटिल प्राकृतिक इकाई है और उसके व्यवहार के अध्ययन में कुछ ऐसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है, जो भौतिक विज्ञानी द्वारा अपने विषय के अध्ययन में आने वाली कठिनाइयों से सर्वथा भिन्न प्रकार की हों। कुल मिलाकर मैं यह प्रतिपादित करना चाहता हूं कि उनके लक्ष्य और पद्धतियां मूलतः भिन्न नहीं होते।

मेरा चौथा मुद्दा सामाजिक विज्ञानों जिनमें इतिहास शामिल है और भौतिक विज्ञानों के बीच विभाजन रेखा खींचने के लिए कहीं ज्यादा सटीक तर्क प्रस्तुत करेगा। तर्क यह है कि सामाजिक विज्ञानों में विषय और वस्तु एक ही श्रेणी के होते हैं और एक दूसरे पर क्रिया प्रतिक्रिया करते हैं। मानव न केवल प्रकृति की अत्यंत जटिल और वैविध्यपूर्ण इकाई है बल्कि दूसरे मानवों द्वारा ही उसका अध्ययन अपेक्षित होता है, न कि दूसरी दुनिया के स्वतंत्र पर्यवेक्षकों द्वारा। यहां जंतु विज्ञान की तरह मानव अपनी शारीरिक बनावट और शारीरिक प्रतिक्रिया का ज्ञान प्राप्त करके ही संतुष्ट नहीं होता। समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री और इतिहासकार को मानव व्यवहार के उन स्वरूपों के भीतर प्रविष्ट होना पड़ता है जिनमें मानव इच्छा शक्ति सक्रिय होती है; उन्हें इस बात का पता लगाना होता है कि उसके अध्ययन के विषय जो मानव हैं उनमें उस क्रिया को करने की इच्छा क्यों हुई, जो उन्होंने की। पर्यवेक्षक और पर्यवेक्ष्य के बीच यह खास तरह का संबंध इतिहास और सामाजिक विज्ञानों की विशेषता है। इतिहासकार का दृष्टिकोण

उसके प्रत्येक पर्यवेक्षण में निश्चित रूप से मौजूद रहता है; इतिहास में सापेक्षता आरंभ से अंत तक निहित होती है। कार्ल मैनहीम के शब्दों में : 'पर्यवेक्षक के सामाजिक स्तर के अनुरूप ही उसके द्वारा एकत्रित, विभाजित और क्रमबद्ध अनुभवों के स्वरूप भी अलग अलग होते हैं।[21] किंतु केवल यह सच नहीं है कि समाजशास्त्री के पूर्वग्रह अनिवार्य रूप से उसके सभी पर्यवेक्षणों में विद्यमान होते हैं। यह भी सच है कि पर्यवेक्षण की प्रक्रिया पर्यवेक्षण की विषयवस्तु को भी प्रभावित और परिवर्तित करती है। ऐसा दो परस्पर विरोधी रूपों में हो सकता है। ऐसा भी हो सकता है कि जिन मानवों के व्यवहार का विश्लेषण और पूर्वधारणाएं प्रस्तुत की जा रही हों, वे अपने लिए विपरीत परिणामों के पूर्वज्ञान से चेत जाएं और तदनुरूप अपने कार्य व्यापार में सुधार या परिवर्तन कर लें, फलत: इतिहासकार की भविष्यवाणी, चाहे वह कितने ही सटीक विश्लेषण पर आधारित क्यों न हो, आत्मविरोधी साबित हो जाए। ऐतिहासिक चेतना से युक्त लोगों में इतिहास खुद को दुहरा नहीं पाता इसका कारण यह है कि उसके पात्र नाटक के दूसरे प्रदर्शन के समय पहले से ही उसके परिणामों से वाकिफ होते हैं और इस तरह उनकी क्रियाएं उस ज्ञान से प्रभावित हो जाती हैं।[22]

बोल्शेविकों को पता था कि फ्रांसीसी क्रांति की परिणति एक नेपोलियन में हुई थी और उन्हें डर था कि कहीं उनकी अपनी क्रांति की भी वही परिणति न हो। इसलिए वे ट्राट्स्की पर अविश्वास करते थे क्योंकि उनके नेताओं में वह एकदम नेपोलियन जैसा लगता था और वे स्तालिन पर विश्वास करते थे क्योंकि वह नेपोलियन से एकदम भिन्न था। मगर यह प्रक्रिया उल्टी दिशा में भी सक्रिय हो सकती है। कोई अर्थशास्त्री, वर्तमान आर्थिक स्थितियों की वैज्ञानिक व्याख्या कर के भावी आर्थिक संपन्नता या विपन्नता की भविष्यवाणी करता है, अगर वह बड़ा अर्थविशेषज्ञ है और उसके तर्क सटीक हैं तो जिस तथ्य की वह भविष्यवाणी करता है उसके संभव होने में सहायक होता है। यदि कोई राजनीति विज्ञानी ऐतिहासिक पर्यवेक्षण के आधार पर इस धारणा का पोषण करता है कि निरंकुश शासन खत्म होने ही वाला है तो वह निरंकुश शासक के पतन में सहायक होता है। हरेक को पता है कि चुनाव प्रत्याशी का चुनाव के समय कैसा आचरण होता है। वे अपनी जीत की भविष्यवाणी इसलिए करते हैं कि उससे उनकी भविष्यवाणी की पूर्ति ज्यादा संभावित हो सके; और ऐसी शंका की जाती है कि अर्थशास्त्री, राजनीतिशास्त्री और इतिहासकार भविष्यवाणी करते हैं तो अक्सर अपनी भविष्यवाणी की परिणति को तीव्रतर करने के लिए अचेत भाव से सक्रिय होते हैं। इन जटिल संबंधों के बारे में बिना किसी हिचक के इतना तो कहा जा सकता है कि पर्यवेक्षक और पर्यवेक्ष्य, समाज विज्ञानी और उसके आंकड़ों, इतिहासकार और उसके तथ्यों के बीच की परस्पर क्रिया या घातप्रतिघात निरंतर होते रहते

हैं और निरंतर बदलते रहते हैं। इतिहास तथा सामाजिक विज्ञानों का यह गुण विशिष्ट जान पड़ता है।

मैं यहां इस बात पर टिप्पणी करना चाहूंगा कि पिछले कुछ वर्षों में कुछ भौतिक विज्ञानियों ने अपने विज्ञान के विषय में ऐसी बातें कही हैं जिनसे भौतिक जगत और ऐतिहासिक जगत में बड़ी स्पष्ट समानताओं के संकेत मिलते हैं। सबसे पहले वे अपने निष्कर्षों में अनिश्चय और अनिर्णय के सिद्धांत की बातें करते हैं। मैं अपने अगले भाषण में इतिहास में निर्णयवाद या नियतिवाद की प्रकृति और सीमा पर चर्चा करूंगा। किंतु आधुनिक भौतिकी का अनिश्चयवाद विश्व की प्रकृति में निहित है या इसके बारे में हमारे अपूर्ण ज्ञान (यह मुद्दा अभी विवादग्रस्त है) का मात्र परिचायक है, मुझे भी ऐतिहासिक भविष्यवाणी करने में आज वैसा ही अनिश्चय का अनुभव होगा और मैं कुछ वर्ष पूर्व किसी उत्साही व्यक्ति के द्वारा की गई भविष्यवाणी के अनुसार इसमें स्वतंत्र इच्छाशक्ति का प्रवर्तन नहीं देख सकूंगा। दूसरे, हमें बताया जाता है कि आधुनिक भौतिकी में शून्य और समय की दूरियों की माप 'पर्यवेक्षक' की अपनी गति पर निर्भर करता है। आधुनिक भौतिकी में सभी मापों में वैविध्य की संभावना निहित होती है क्योंकि 'पर्यवेक्षक' और 'पर्य-वेक्ष्य' के बीच कोई स्थाई संबंध स्थापित कर पाना असंभव होता है; पर्यवेक्षक और पर्यवेक्ष्य विषय और विषयी दोनों पर्यवेक्षण के अंतिम निष्कर्ष में शामिल होते हैं। लेकिन जबकि ये विचार इतिहासकार और उसके पर्यवेक्ष्य पर अल्पतम परिवर्तन के साथ लागू हो सकते हैं, मैं संतोष के साथ नहीं कह सकता कि इन संबंधों की तुलना सारत: भौतिक विज्ञानी और उसके विश्व के संबंधों के साथ की जा सकती है। हालांकि मेरी चेष्टा है कि वैज्ञानिक और इतिहासकार के उन दृष्टि भेदों को जो उन्हें अलग करते हैं, बढ़ाकर नहीं बल्कि घटाकर प्रस्तुत किया जाए। इस बात की कोशिश लाभप्रद नहीं होगी कि इन दृष्टिभेदों को अपूर्ण समानताओं के आधार पर नजरअंदाज कर दिया जाए।

मैं समझता हूं कि यह कहना उचित ही है कि भौतिक विज्ञानी का अपने अध्ययन की वस्तु के साथ जो लगाव (इन्वाल्मेंट) होता है, उससे समाज विज्ञान और इतिहासकार का अपने अध्ययन की वस्तु, विषय और विषयी का संबंध कहीं अधिक जटिल होता है। मगर बात यहीं खत्म नहीं होती। ज्ञान के परंपरागत शास्त्रीय सिद्धांत, जो सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की पूरी अवधि में प्रचलित थे, उन सभी ने ज्ञान प्राप्त करने वाले कर्ता और ज्ञान की वस्तु में द्वित्व या अलगाव बनाए रखा। यह प्रक्रिया चाहे जैसे ध्यान में आई हो, दार्शनिकों ने जो माडल बनाए उनमें कर्ता और वस्तु, मानव और बाह्य जगत को विच्छिन्न और अलग दिखाया गया। यही विज्ञान के जन्म और विकास का स्वर्णकाल था और ज्ञान के सिद्धांत विज्ञान के रहनुमाओं के दृष्टिकोणों से बहुत गहरे प्रभावित हो रहे

थे। वह इन सिद्धांतों से ऐसे पेश आता था जैसे वे एकदम अगम्य और शत्रुतापूर्ण हों। अगम्य इसलिए कि समझ में नहीं आते थे और शत्रुतापूर्ण इसलिए कि उन पर आधिपत्य जमाना या उन्हें काबू में रखना मुश्किल था। आधुनिक विज्ञान की सफलता से यह दृष्टिकोण बहुत संशोधित हो गया है। आज का वैज्ञानिक प्राकृतिक शक्तियों के साथ संघर्ष करने या ताकत आजमाने की बात नहीं सोचेगा, बल्कि उसके साथ समझौता करके वह उसे अपने उद्देश्यों में लगाने की बात सोचेगा। ज्ञान के परंपरागत शास्त्रीय सिद्धांत आधुनिकतम विज्ञान पर फिट नहीं बैठते और भौतिकी पर तो सबसे कम। आश्चर्य नहीं कि पिछले पचास वर्षों में दार्शनिक उन पर प्रश्नचिह्न लगाने लगे हैं और यह स्वीकार करने लगे हैं कि ज्ञान की प्रक्रिया में वस्तु और कर्ता एकदम विच्छिन्न न होकर एक दूसरे पर आश्रित तथा एक दूसरे को प्रभावित करने वाले हैं। सामाजिक विज्ञानों के लिए इस मान्यता का बहुत बड़ा महत्व है। मैंने अपने पहले भाषण में सुझाया था कि इतिहास के अध्ययन पर परंपरागत अनुभववादी सिद्धांत को लागू करना कठिन है। मैं अब यह तर्क प्रस्तुत करना चाहूंगा कि सभी सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन में ज्ञान के किसी ऐसे सिद्धांत को लागू करना अनुचित है जो कर्ता और वस्तु के बीच विच्छेद का प्रतिपादन करता है क्योंकि सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन के साथ आदमी अपने दोनों ही रूपों अर्थात कर्ता और वस्तु, खोजकर्ता और खोज के विषय के रूप में संबद्ध है। समाजशास्त्र ने खुद को संश्लिष्ट विद्या के एक अंग के रूप में स्थापित करने के उद्देश्य से अपनी एक शाखा 'ज्ञान का समाजशास्त्र' की स्थापना की है। यद्यपि यह शाखा अभी ज्यादा आगे नहीं बढ़ पाई है, इसका प्रमुख कारण यह है कि अभी यह ज्ञान के पारंपरिक सिद्धांत के दायरे में ही घूम रही है। अगर आज आधुनिक भौतिक विज्ञान और आधुनिक सामाजिक विज्ञानों के प्रभावस्वरूप दार्शनिक इस दायरे को तोड़ कर निकलने के लिए उत्सुक हैं और ज्ञान की प्रक्रिया के उस पुराने बिलियर्ड के गेंद जैसे माडल को बदलना चाहते हैं, जिसके अनुसार निष्क्रिय चेतना पर आंकड़ों का बोझ लादकर निष्कर्ष निकाले जाते थे, तो यह सामाजिक विज्ञानों के लिए, विशेषकर इतिहास के लिए शुभ है। बाद में इतिहास में वस्तुगतता की चर्चा करते समय मैं इस विषय पर आऊंगा।

और अंत में मैं एक महत्वपूर्ण विषय पर आता हूं। मैं यहां इस दृष्टिकोण की चर्चा करूंगा कि इतिहास, जो कि धर्म और नैतिकता के प्रश्नों से गहराई में जुड़ा होता है, साधारणतया विज्ञान से और अन्य सामाजिक विज्ञानों से भी भिन्न होता है। धर्म के साथ इतिहास के संबंध पर मैं केवल उतना ही कहूंगा, जिससे इस संबंध में मेरी अपनी स्थिति स्पष्ट हो जाए। गंभीर ज्योतिषी होने के लिए विश्व के निर्माता और नियामक ईश्वर में विश्वास होना संगत है। परंतु इसके साथ ऐसे ईश्वर में विश्वास होना संगत नहीं प्रतीत होता जो इच्छानुसार किसी

भी समय ग्रहों की कक्षाएं बदल देता है, ग्रहण का समय बदल देता है, और नक्षत्र लोक के खेल के नियम बनाता बिगाड़ता है। इसी प्रकार, यह सुझाया जाता है कि एक गंभीर इतिहासकार ऐसे ईश्वर में विश्वास रख सकता है, जो इतिहास के पूरे दौर का नियामक है और जिसने इसे अर्थ दिया है, मगर वह 'ओल्ड टेस्टामेंट' के ईश्वर पर विश्वास नहीं कर सकता, जो अमेलिकाइट जाति की हत्या में भूमिका अदा करता है और जो शुआ की सेना को मदद देने के लिए दिन की रोशनी को आगे बढ़ा देता है और तिथियों के साथ धोखाधड़ी करता है। और न ही किसी ऐतिहासिक घटना की व्याख्या के लिए वह ईश्वर से प्रार्थना कर सकता है। फादर दि आर्सी ने अपनी एक नई पुस्तक में इसे विश्लेषित करने का प्रयास किया है : 'इतिहास के विद्यार्थी के लिए हर प्रश्न के उत्तर में यह कहना कि यही ईश्वर की मर्जी है उचित नहीं है। जब तक हम दूसरों की तरह पार्थिव घटनाओं और मानवीय नाटक को अच्छी तरह सुलझा समझ नहीं लेते, तब तक हमें व्यापक विवेचन की ओर अग्रसर नहीं होना चाहिए।'[23] इस मत का भोंड़ापन यह है कि यह धर्म को ताश के पत्तों के जोकर की तरह इस्तेमाल करता है और उसे किन्हीं खास चालाकियों (ट्रिकों) के लिए सुरक्षित रखना चाहता है, उन चालाकियों के लिए जिन्हें और तरीकों से पूरा नहीं किया जा सकता। लूथर मतावलंबी धर्म प्रचारक कार्ल बार्थ ने इससे बेहतर किया था। उसने दैवी और पार्थिव इतिहास को पूरी तौर पर अलग करने की घोषणा की थी और पार्थिव इतिहास को अपने चर्च की पार्थिव शाखा के हवाले कर दिया था। अगर मैं ठीक हूं तो प्रो० बटरफील्ड भी जिस वक्त 'तकनीकी' इतिहास की बात करते हैं तो इसी बात की ओर संकेत करते हैं। तकनीकी इतिहास एकमात्र इतिहास है जो आप या हम लिख सकते हैं या उन्होंने खुद लिखा है। किंतु इस विचित्र विशेषण के प्रयोग से वे एक रहस्यमय या दैवी इतिहास में विश्वास रखने के अधिकार को अपने लिए सुरक्षित रखना चाहते है और चाहते हैं हम सभी बाकी लोग उससे कोई मतलब न रखें। बर्द्याएव नीबह्र और मैरिटेन आदि इतिहासकार इतिहास के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, मगर इस बात पर जोर देते हैं कि इतिहास का लक्ष्य या परिणति इतिहास के बाहर होती है। व्यक्तिगत रूप से मैं इतिहास की अखंडता का इस विश्वास के साथ कोई तालमेल नहीं देखता कि इतिहास का अर्थ और महत्व किसी परा-ऐतिहासिक शक्ति पर निर्भर करता है, चाहे वह चुने हुए लोगों का ईश्वर हो, या ईसाई ईश्वर हो, या दैव के गुप्त हाथ हों या हीगेल की विश्व आत्मा। इन भाषणों के लिए मैं यह मान कर चलूंगा कि इतिहासकार को अपनी समस्याओं का समाधान किसी बाह्य शक्ति पर निर्भर किए बिना करेंगे और इतिहास ऐसा ताश का खेल है जिसे जोकर के बगैर खेला जाता है।

नैतिकता के साथ इतिहास का संबंध कहीं ज्यादा जटिल है और अतीत में

इससे संबंधित परिचर्चाओं में कई तरह की संदिग्धताएं रही हैं। आज इस बात पर तर्क करना एकदम गैरजरूरी हो गया है कि इतिहासकार को अपने इतिहास में आने वाले चरित्रों के व्यक्तिगत जीवन पर नैतिक फैसले नहीं देने चाहिए। इतिहासकार और नैतिकतावादी के वैचारिक आधार एक नहीं होते। आठवां हेनरी बुरा पति मगर अच्छा राजा हो सकता है मगर इतिहासकार को उसके पति रूप से वहीं तक मतलब है, जहां तक वह इतिहास की धारा को प्रभावित करता है। अगर उसकी नैतिक विमुखता का उतना ही कम प्रभाव जनजीवन पर पड़ता जितना हेनरी द्वितीय का, तो इतिहासकार को उससे कोई मतलब नहीं होना चाहिए। यह नियम गुणों और दोषों दोनों पर लागू होगा। पाश्चयूर और आइंस्टीन का व्यक्तिगत जीवन निहायत साफ-सुथरा एक तरह से साधुतापूर्ण कहा जा सकता है। मगर मान लीजिए वे चरित्रहीन पति, क्रूर पिता और बेईमान साथी होते तो क्या उनकी ऐतिहासिक उपलब्धियां किसी प्रकार कम होतीं। और ये उपलब्धियां ही इतिहासकार के अध्ययन का विषय हैं। कहा जाता है स्तालिन का अपनी दूसरी पत्नी के साथ अच्छा व्यवहार नहीं था, मगर सोवियत मामलों के इतिहासकार के रूप में इससे मैं ज्यादा सरोकार महसूस नहीं करता। इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्तिगत नैतिकता का कोई महत्व नहीं है या कि नैतिकता का इतिहास, इतिहास का वास्तविक अंश नहीं है। मगर इतिहासकार अपनी पुस्तक के पृष्ठों पर आने वाले चरित्रों के जीवन पर नैतिक फैसले देने के लिए अपने वास्तविक दायित्व के रास्ते से अलग नहीं हटता। इसलिए कि उसके पास करने को और भी बहुत से काम हैं।

जनकार्यों पर नैतिक आरोप लगाने के प्रश्न से कहीं बड़ी अस्पष्टताएं पैदा होती हैं। अपने चरित्रों पर नैतिक फैसले देने के कर्तव्य पर विश्वास करना इतिहासकारों के लिए काफी पुरानी बात है। मगर उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रिटेन के पहले यह इतना जोरदार कभी नहीं रहा क्योंकि युग की उपदेशात्मक प्रवृत्ति और व्यक्तिवाद के प्रबल प्रभाव ने इसे बढ़ाया था। रोजबेरी का कथन है कि दरअस्ल अंगरेज नेपोलियन के बारे में मूलतः यह जानना चाहते थे कि क्या वह 'अच्छा आदमी था।'[24] क्रेटन को लिखे अपने पत्र में ऐक्टन ने लिखा : 'नैतिकता की कठोरता में इतिहास की शक्ति, गरिमा और उपयोगिता का रहस्य निहित है।' और उन्होंने इतिहास को विवादों का निर्णायक, बहकते हुए का पथप्रदर्शक, और उस नैतिक स्तर का समर्थक बनाने का दावा किया जिसे भौतिक शक्तियां तथा धर्म लगातार दबाना चाहते हैं।[25] वस्तुपरकता और ऐतिहासिक तथ्यों की सर्वोच्चता पर ऐक्टन के प्रायः रहस्यमय विश्वास से ही यह दृष्टिकोण पैदा हुआ है। इस दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास के नाम पर इतिहासकार, ऐतिहासिक घटनाओं में भूमिका अदा करने वाले चरित्रों पर नैतिक फैसले देने की एक तरह की परा-

ऐतिहासिक क्षमता की आवश्यकता तथा अधिकार महसूस करने लगता है। यह मनोवृत्ति अब भी कभी कभी अनपेक्षित रूपों में प्रकट हो जाती है। 1935 में मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर जो हमला किया था उसे प्रो० टायनबी 'जानबूझकर किया गया व्यक्तिगत पाप'[26] की संज्ञा देते हैं और पहले उद्धृत निबंध में सर आइसाया बर्लिन बहुत जोर देकर कहते हैं कि 'यह इतिहासकार का कर्तव्य है कि वह 'चार्लमेन या नेपोलियन या चंगेजखां या हिटलर या स्तालिन की उनके द्वारा किए गए नरमेधों के लिए निंदा करे।'[27] प्रो० नोऐल्स ने इस विचार का पर्याप्त विरोध किया है। उन्होंने अपने उद्घाटन भाषण में मोटले द्वारा की गई फिलिप द्वितीय की भर्त्सना यदि ऐसे दोष होते हैं जो उसमें नहीं थे तो उसका केवल यह है कि मानव स्वभाव में पूर्णता संभव नहीं है, भले ही दुर्गुणों की हो और स्टब्ब द्वारा दिया किंग जान का वर्णन ('आदमी के लिए लज्जानक हर अपराध से भरा हुआ') उद्धृत किया है और उन्हें इतिहासकारों द्वारा व्यक्तियों पर आरोपित किए गए नैतिक फैसलों के दृष्टांत के रूप में पेश किया है, ऐसे फैसले जो इतिहासकार के अधिकार सीमा के बाहर है : इतिहासकार न्यायाधीश नहीं होता, फांसी चढ़ाने वाला न्यायाधीश तो कतई नहीं।'[28] मगर क्रोशे ने इस मुद्दे पर एक अच्छा वक्तव्य दिया है, जिसे मैं उद्धृत करना चाहता हूं :

> वादी उस महान अंतर को भूल रहा है कि हमारे न्यायाधिकरण (कानूनी या नैतिक) आज के न्यायाधिकरण हैं, जिनका प्रावधान जीवित, सक्रिय खतरनाक व्यक्तियों के लिए हुआ है, जबकि वे दूसरे लोग अपने समय के न्यायाधिकरणों के सामने पेश हो चुके हैं और दोबारा दंडित या मुक्त नहीं किए जा सकते। वे किसी भी न्यायाधिकरण के प्रति जिम्मेदार नहीं हैं क्योंकि वे अतीत की शांति में पहुंच चुके हैं और कोई भी फैसला उन पर लागू नहीं किया जा सकता, सिवाय उस फैसले के जो उनके कार्यों के मर्म में प्रवेश करने और उन्हें समझने में सहायक हो...वे लोग जो इतिहास लिखने के नाम पर, न्यायाधीशों के रूप में पैंतरे लेते हैं, किसी को यहां सजा दी, किसी को यहां छेड़ा क्योंकि वे समझते हैं कि यह इतिहास का काम है...ऐसे लोगों के पास ऐतिहासिक समझ की कमी होती है।[29]

अगर कोई इस वक्तव्य के आधार पर यह कहे कि हमें हिटलर या स्तालिन या आप चाहें तो सिनेटर मैकार्थी पर नैतिक फैसले देने का अधिकार नहीं है तो यह गलत होगा क्योंकि ये तीनों व्यक्ति हम में से अधिकांश के समकालीन थे और जिन लोगों ने इनके हाथों प्रत्यक्ष या परोक्ष कष्ट पाए थे, उनमें से लाखों लोग आज भी जीवित हैं और इसी कारण चूंकि हमारे लिए इन व्यक्तियों तक इतिहासकार की भूमिका में पहुंचना संभव नहीं है इसीलिए यह भी संभव नहीं है कि हम खुद को उन दूसरी हैसियतों से अलग कर लें जिनके आधार पर उनके कार्यों का नैतिक मूल्यांकन

करना हमारे लिए न्यायोचित हो सकता है। समकालीन इतिहासकार के लिए यह एक झिझक या कहें कि खास झिझक का कारण है। मगर आज अगर कोई चार्लमेन या नेपोलियन की भर्त्सना करे तो उसे इससे क्या लाभ हो सकता है।

अतएव हम इतिहासकार को फांसी देने वाले न्यायाधीश की भूमिका को रद्द करें और इससे कठिन किंतु ज्यादा लाभदायक प्रश्न पर विचार करें और वह है व्यक्तियों के बजाय घटनाओं, संस्थाओं और अतीत की नीतियों पर नैतिक फैसले देने का प्रश्न। इतिहासकार के लिए ये फैसले महत्वपूर्ण होते हैं और वे लोग जो व्यक्तियों पर नैतिक फैसले देने के बड़े हिमायती होते हैं कभी कभी बिना जाने किसी दल या समाज के लिए निर्दोषिता का प्रमाण पेश करते हैं। फ्रांसीसी इतिहासकार ली फेव्रे, नेपोलियन के युद्धों के विनाश और रक्तपात से फ्रांसीसी क्रांति को दायित्वमुक्त करने के इरादे से उनकी जिम्मेदारी 'एक सेनानायक (जनरल) के अधिनायकवाद' पर रखता है 'जो स्वभाव से ही···शांति और व्यवस्था से संतुष्ट नहीं रहता था।'[30] जर्मनी के लोग आज के इतिहासकारों द्वारा हिटलर के व्यक्तिगत दुराचरण की निंदा का स्वागत करते हैं, और इसे उस युग की, जिसने हिटलर को जन्म दिया था, नैतिकता पर इतिहासकार द्वारा दिए गए फैसलों की अपेक्षा अधिक स्वीकार्य मानते हैं।

रूसी, अंगरेज और अमरीकी लोग अपने सामूहिक दुष्कृत्यों के लिए स्तालिन, नेविले चेंबरलेन और मैकार्थी के व्यक्तिगत जीवन पर हमले शुरू कर देते हैं। इतना ही नहीं व्यक्तियों की नैतिकता से संबंधित प्रशंसा भी उतनी ही भ्रमपूर्ण और शरारत भरी हो सकती है जितनी निंदा। यह स्वीकार करना कि दास युग के कुछ स्वामी ऊंचे विचारों वाले थे, दास प्रथा को अनैतिक करार देकर उसकी निंदा करने से लगातार मुकरने का सिर्फ एक बहाना रहा है। 'कमगर या कर्जखोर को पूंजीवाद जिस स्वामीरहित दासत्व में डाल देता है' उसकी चर्चा करते हुए मैक्स-वेबर ने यह तर्क ठीक ही दिया है कि इतिहासकार को इन संस्थानों पर नैतिक फैसले देने चाहिए न कि उन व्यक्तियों पर जिन्होंने इनका निर्णय किया था।[31] इतिहासकार किसी एक निरंकुश शासक पर फैसला देने के लिए नहीं बैठता। किंतु उससे यह भी उम्मीद नहीं रखी जाती कि वह पूर्वी निरंकुशवाद और परिक्लियन एथेंस के संस्थानों के बीच तटस्थ और लापरवाह नहीं रह सकता। वह किसी एक दास स्वामी पर फैसले नहीं देगा, किंतु दास प्रथा वाले किसी समाज पर फैसले देने से उसे नहीं रोका जा सकता। जैसा मैं पहले कह चुका हूं ऐतिहासिक तथ्यों के पीछे कुछ व्याख्याएं होती हैं और ऐतिहासिक व्याख्या से नैतिक फैसले जुड़े हुए हैं, वैसे 'नैतिक फैसले' शब्द पर आपको आपत्ति हो तो आप थोड़ा पक्षपातहीन सा लगने वाला शब्द 'मूल्य निर्धारण' उसकी जगह पर रख लें।

यह हमारी कठिनाइयों की शुरुआत भर है। इतिहास संघर्ष की वह प्रक्रिया

है, जिसमें परोक्ष या अपरोक्ष रूप से कुछ दल (ज्यादातर अपरोक्ष रूप से ही) दूसरों के मूल्य पर निष्कर्ष निकालते हैं, चाहे वे निष्कर्ष प्रशंसात्मक हों या निंदात्मक। हारने वाले को इसका मूल्य चुकाना पड़ता है। इतिहास में यातनाएं सदा स्थानीय होती हैं। इतिहास के प्रत्येक महान दौर में विजयों के साथ साथ पराजय की स्थितियां भी होती हैं। हमारे पास ऐसा कोई माप नहीं है जिससे कुछ लोगों के लाभ को दूसरों के त्याग के समतुल्य मान लिया जाए इसलिए यह एक अत्यंत उलझा हुआ प्रश्न है। फिर भी ऐसा एक संतुलन बनाना ही पड़ता है। यह विशेष रूप से इतिहास की समस्या नहीं है। सामान्य जीवन में हम छोटी बुराइयों को चुनने या यों कहें कि अच्छे फल के लिए बुराई को स्वीकार करने की मजबूरी को स्वीकार कर लेते हैं, यद्यपि हम इसे अक्सर स्वीकार करना नहीं चाहते। इतिहास में इस प्रश्न पर 'विकास का मूल्य' और 'क्रांति का मूल्य' शीर्षकों के अंतर्गत चर्चा की जाती है। यह हमें गलत दिशा में ले जाती है। जैसाकि बेकन अपने 'आन इन्नोवेशंस' शीर्षक निबंध में कहता है: 'प्रथाओं के आगे चलाए जाना उतना ही उथल-पुथल से भरा हुआ होता है जितना नई पद्धतियों का आविष्कार।' स्थायित्व का मूल्य अल्प सुविधा प्राप्त लोगों पर उतना ही भारी पड़ता है जितना नई पद्धतियों के आविष्कार का दबाव उन पर पड़ता है जो सुविधाहीन होते हैं।

यह सिद्धांत कि अल्पसंख्यकों के भले के लिए बहुसंख्यकों की यंत्रणा और शोषण उचित है, सभी प्रकार की व्यवस्थाओं में प्रतिलक्षित होता है और यह सिद्धांत उतना ही नया है जितना पुराना। डा० जानसन बड़ी बुराई के समक्ष छोटी बुराई चुनने के सिद्धांत का इस्तेमाल वर्तमान आर्थिक असमानता को उचित ठहराने के लिए करते हैं: 'सभी दुखी रहें इससे बेहतर है कि कुछ प्रसन्न रहें और समानता की स्थिति में सभी का दुखी होना अनिवार्य है।'[32] मगर तीव्र परिवर्तन काल में यह प्रश्न अपनी पूरी नाटकीयता के साथ उभरता है और यहीं पर इसके प्रति इतिहासकार के रुख का अध्ययन करना हमें सबसे आसान लगता है।

आइए हम 1780 से 1870 के बीच ग्रेट ब्रिटेन के उद्योगीकरण की कहानी को लें। प्रत्येक इतिहासकार औद्योगिक क्रांति को निश्चय ही बिला बहस के, एक महान और प्रगतिशील उपलब्धि के रूप में स्वीकार करेगा। इसके साथ ही वह किसानों की जमीन से बेदखली, अस्वास्थ्यकर कारखानों और गंदी बस्तियों में मजदूरों के समूहीकरण, बाल श्रम के शोषण आदि की भी चर्चा करेगा। वह शायद कहेगा कि व्यवस्था की कार्यपद्धति में बुराइयां थीं और यह भी कि कुछ मालिक औरों की अपेक्षा ज़्यादा कठोर थे और व्यवस्था के स्थापित हो जाने पर धीरे धीरे विकसित होने वाली मानवीय चेतना का भी थोड़ी भावुकता के साथ जिक्र करेगा। मगर वह संभवतः बिना कहे यह मान लेगा कि उद्योगीकरण के लिए दिए जाने वाले मूल्य के रूप में, कम से कम इसके आरंभिक विकास के समय, उत्पीड़न और

शोषण को रोका नहीं जा सकता। और हमने ऐसे किसी इतिहासकार का नाम नहीं सुना है, जिसने कहा हो कि उद्योगीकरण का जो मूल्य चुकाना पड़ रहा है, उसे देखते हुए कहीं बेहतर होगा कि विकास को स्थगित कर दिया जाए आर उद्योगीकरण रोक दिया जाए। अगर ऐसा कोई इतिहासकार हो भी तो वह चेस्टर्टन या वेलोक स्कूल का इतिहासकार माना जाएगा। ऐसा मानना उचित भी है, पर गंभीर इतिहासकार उसे गंभीरता से नहीं लेंगे। यह मेरी विशेष रुचि का उदाहरण है क्योंकि सोवियत रूस के इतिहास लेखन के सिलसिले में मैं उस स्थल पर आ पहुंचा हूं जहां उद्योगीकरण के लिए अदा किए जाने वाले मूल्य के रूप में किसानों के समूहीकरण की समस्या पर मुझे विचार करना है। और मैं जानता हूं यदि मैं ब्रिटिश औद्योगिक क्रांति के इतिहासकारों की तरह समूहीकरण की बुराइयों और क्रूरताओं की निंदा करूं और इसकी प्रक्रिया को उद्योगीकरण के लिए आवश्यक तथा उचित ठहराऊं तो मेरे ऊपर मनमानी करने और बुराइयों के प्रति सहनशील होने का आरोप लगाया जाएगा। पश्चिमी देशों द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी में एशियाई और अफ्रीकी देशों को उपनिवेश बनाने की प्रक्रिया को न केवल विश्व की अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले फौरी प्रभाव के कारण बल्कि इन देशों की पिछड़ी जनता पर पड़ने वाले दूरगामी प्रभाव के कारण भी माफ कर देते हैं। कहा जाता है कि आधुनिक भारत ब्रिटिश शासन का ही शिशु है और आधुनिक चीन उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमी साम्राज्यकार और रूसी क्रांति के मिले-जुले प्रभाव की उपज। दुर्भाग्य की बात यह है कि जिन चीनी मजदूरों ने बंदरगाहों पर स्थित पश्चिमी देशों के कारखानों में पसीना गिराया या दक्षिण अफ्रीका की खानों में खटते रहे या प्रथम विश्वयुद्ध में पश्चिमी युद्धक्षेत्रों में मौत का मुकाबला करते रहे, वे चीनी क्रांति से प्राप्त लाभ या गौरव का उपभोग नहीं कर सके। किसी चीज का दाम चुकाने वाले उसका लाभ शायद ही कभी उठा पाते हैं। एंगेल्स का प्रसिद्ध उद्धरण इस संदर्भ में बेहद उपयुक्त है :

> इतिहास सभी देवियों से ज्यादा क्रूर होता है और न केवल युद्ध में, बल्कि शांति काल के आर्थिक विकास में भी अनगिनत लाशों के ऊपर से अपना विजय रथ दौड़ाता चला जाता है। और हम स्त्री पुरुष दुर्भाग्यवश इतने नासमझ हैं कि जब तक हम अपने अतिशय कष्टों द्वारा प्रेरित नहीं होते, तब तक वास्तविक प्रगति के लिए काम करने का साहस नहीं जुटा पाते।[33]

इवान करामाजोव का प्रसिद्ध विरोध एक तरह का वीरोचित छल है। हम समाज और इतिहास में जन्म लेते हैं। ऐसा एक भी क्षण नहीं आता जब हमें यह प्रवेश पत्र स्वीकार या अस्वीकार करने की स्वतंत्रता मिलती हो। धर्मशास्त्री की तरह इतिहासकार के पास भी यंत्रणा की इस समस्या का कोई निष्कर्षात्मक उत्तर नहीं होता। वह भी अल्प बुराई और वृहत कल्याण के सिद्धांत का

सहारा लेता है। मगर क्या इससे साबित नहीं होता कि वैज्ञानिक के विपरीत इतिहासकार का अपनी सामग्री की प्रकृति के बारे में इस तरह के नैतिक निष्कर्ष के प्रश्नों से जूझना इतिहास को मूल्यों के पराऐतिहासिक मापदंड के अधीन करना है ? मैं ऐसा नहीं सोचता। आइए, हम मान लें कि 'अच्छा' और 'बुरा' जैसी अमूर्त धारणाएं और उसके अधिक अपमिश्रित रूप, इतिहास की परिसीमा के बाहर हैं। मगर फिर भी ऐतिहासिक नैतिकता के अध्ययन में ये अवधारणाएं वही महत्व रखती हैं जो भौतिक विज्ञान के अध्ययन में गणित और तर्क के फार्मूलों का होता है। ये विचार की अनिवार्य श्रेणियां हैं, मगर ये तभी तक अर्थहीन रहती हैं, जब तक कोई विशिष्ट विषयवस्तु उनमें अनुस्यूत नहीं होती। अगर आप चाहें तो इसके लिए एक दूसरी उपमा ले सकते हैं। नैतिक धारणाएं जिन्हें हम रोजमर्रा के जीवन और इतिहास पर लागू करते हैं, बैंक के चेक की तरह होती है, जिनका कुछ भाग मुद्रित और कुछ लिखित होता है। छपा हुआ हिस्सा ऐसे अमूर्त शब्दों का होता है जैसे स्वतंत्रता, एकता, न्याय और प्रजातंत्र आदि। ये आवश्यक श्रेणियां हैं। मगर यह चेक तब तक मूल्यहीन रहता है जब तक हम लिखित खाने न भर दें और यह तय न कर दें कि हम किन्हें कितनी स्वतंत्रता देना चाहते हैं, किन्हें हम समानता देते हैं, और किस सीमा तक। जिस तरीके से समय समय पर इस चेक को हम भरते हैं वह इतिहास का तरीका है। जिस प्रक्रिया में अमूर्त नैतिक धारणाओं को हम ऐतिहासिक विषयवस्तु प्रदान करते हैं वह एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। दरअस्ल हमारे नैतिक निष्कर्ष और फैसले एक अवधारणात्मक ढांचे के भीतर ही तय किए जाते हैं यह ढांचा हमें इतिहास से ही प्राप्त होता है। नैतिक प्रश्नों पर समकालीन अंतर्राष्ट्रीय विवाद का यह सर्वप्रिय रूप दरअस्ल स्वतंत्रता और प्रजातंत्र के दो विरोधी दावों का ही एक विवाद है। ये नैतिक धारणाएं अमूर्त हैं और सारे विश्व में स्वीकृत हैं। मगर उन्हें जो विषयवस्तु प्रदान की जाती है, वह समय और स्थान के अंतर से पूरे मानवीय इतिहास में भिन्न भिन्न रही है और उनके प्रयोग से संबद्ध कोई भी वास्तविक प्रश्न ऐतिहासिक संदर्भ में ही चर्चा का विषय बन सकता है। आइए थोड़ा कम लोकप्रिय उदाहरण लें। 'आर्थिक उपपत्ति' की धारणा को एक वस्तुगत तथा विवादहीन मानदंड के रूप में स्वीकार करने की और उसके आधार पर आर्थिक नीतियों की परीक्षा करने और निष्कर्ष निकालने की कोशिश की गई है। मगर यह कोशिश एकदम असफल हो जाती है। शास्त्रीय अर्थशास्त्र के अध्ययन पर टिके सिद्धांतकार मुख्यत: विनियोजन की भर्त्सना करते हैं और इसे तर्कपूर्ण आर्थिक प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप करना मानते हैं। उदाहरणार्थ विनियोजक अपनी मूल्य निर्धारण नीति में मांग और पूर्ति के नियम से आबद्ध होना स्वीकार नहीं करते और विनियोजन के अंतर्गत मूल्यों का कोई तर्कपूर्ण आधार नहीं होता। यह सच हो सकता है कि अक्सर विनियोजक अतार्किक ढंग से

और ऐसा वह कुछ निंदात्मक मुहावरों, जैसे बुर्जुआ और पूंजीपति या अप्रजातांत्रिक और अधिनायकवाद या अंगरेज विरोधी या अमरीका विरोधी जैसे अधिक स्पष्ट शब्दों को उछाल कर करता है। समाज तथा इतिहास से असंबद्ध अमूर्त मानदंड या मूल्य वैसा ही दृष्टिभ्रम है जैसा अमूर्त व्यक्ति। गंभीर इतिहासकार वह है जो मूल्यों के इतिहासाश्रित चरित्र को पहचानता और स्वीकार करता है, न कि वह जो अपने मूल्यों के लिए इतिहासातीत वस्तुवादिता का दावा करता है। हमारे विश्वास और हमारे मानदंड इतिहास के अंग हैं और वे भी उसी तरह ऐतिहासिक खोज के विषय हैं जैसे मानवीय व्यवहार का कोई और पहलू। बहुत कम विज्ञान और सभी सामाजिक विज्ञान पूर्ण स्वाधीनता का दावा कर सकते हैं। मगर इतिहास खुद से बाहर की किसी चीज पर आधारित नहीं है और यह चीज इसे किसी भी और विज्ञान से अलग करती है।

इतिहास द्वारा विज्ञानों की पंक्ति में शामिल होने के दावे के विषय में मैंने जो कहने की कोशिश की है उसे संक्षेप में प्रस्तुत कर रहा हूं। विज्ञान शब्द पहले ही ज्ञान की इतनी विभिन्न शाखाओं और उनके द्वारा अपनाए जाने वाले विभिन्न तरीकों और तकनीकों को अपने में समाहित किए हुए है कि इसे विज्ञान में शामिल करने वालों के बदले इसे विज्ञान में न शामिल करने वालों पर ही अपने पक्ष को प्रमाणित करने की जिम्मेदारी है। महत्वपूर्ण बात यह है कि इतिहास को विज्ञान की पंक्ति से बहिष्कृत करने का तर्क वैज्ञानिकों का नहीं है, बल्कि ऐसे इतिहासकारों और दार्शनिकों का है, जो मानवीय ज्ञान की एक शाखा के रूप में इतिहास को उसका उचित स्थान दिलाने को प्रतिबद्ध हैं। यह विवाद मानविकी और विज्ञान के पुराने विभाजन के पीछे कार्यरत पूर्वग्रह को ही प्रतिबिंबित करता है जिसके अनुसार मानविकी शासक वर्ग की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती और विज्ञान उक्त शासक वर्ग की सेवा में नियुक्त तकनीशियनों की दक्षता का प्रतिनिधित्व करता। 'मानविकी' और 'मानवीय' जैसे शब्द इस संदर्भ में उक्त प्राचीन पूर्वग्रह को व्यक्त करते हैं। इस पूर्वग्रह के एकदेशीय स्वरूप को प्रगट करने के लिए अपने आप में यह तथ्य पर्याप्त है कि अंगरेजी को छोड़कर किसी भी अन्य भाषा में विज्ञान और इतिहास का यह विभेद अर्थहीन हो जाता है। इतिहास को विज्ञान में शामिल न करने के विरुद्ध मेरा मुख्य ऐतराज है कि इन तथाकथित 'दो संस्कृतियों' के अंतर को यह उचित ठहराता है और बनाए रखता है। यह अंतर इसी पुराने पूर्वग्रह का परिणाम है और अंगरेजी समाज के उस वर्ग ढांचे पर आधारित है जो अतीत में खो चुका है। मैं स्वयं इस बात से आश्वस्त नहीं हूं कि इतिहासकार और भूगर्भशास्त्री के बीच जो खाई है, भूगर्भशास्त्री और भौतिकशास्त्री के बीच की खाई से ज्यादा गहरी और दुर्लंघ्य है। मगर मेरे विचार से इस खाई को पाटने का तरीका यह नहीं है कि इतिहासकार

को प्रारंभिक विज्ञान तथा वैज्ञानिक को आरंभिक इतिहास सिखाया जाए। यह एक अंधी गली है जिसमें हम अपने दिग्भ्रमित चिंतन के कारण पहुंचा दिए गए हैं। वैज्ञानिक खुद भी ऐसा नहीं करते। मैंने कभी नहीं देखा कि इंजीनियरी के विद्यार्थियों को वनस्पति विज्ञान की आरंभिक शिक्षा प्राप्त करने की सलाह दी गई हो।

इसका एक इलाज मैं सुझा सकता हूं और वह यह है कि हम इतिहास का स्तर ऊंचा उठाएं, इसे ज्यादा वैज्ञानिक बनाएं और जो लोग इतिहास का अध्ययन मनन करते हैं उनसे हम और कड़ी अपेक्षाएं रखें। इस विश्वविद्यालय में इतिहास को अध्ययन का एक ऐसा विषय मान लिया जाता है जिसे वे ही लोग आसानी से अपना सकते हैं जिन्हें प्राचीन ग्रंथ जरूरत से ज्यादा कठिन और विज्ञान जरूरत से ज्यादा गंभीर लगते हैं। इन भाषणों के माध्यम से जो प्रभाव मैं पैदा करना चाहता हूं उनमें से एक यह है कि इतिहास प्राचीन ग्रंथों से कहीं ज्यादा कठिन और किसी भी विज्ञान के बराबर ही गंभीर विषय है। मगर यह इलाज इस बात पर निर्भर करता है कि खुद इतिहासकार अपने काम पर कितनी आस्था रखते हैं। सर चार्ल्स स्नो ने पिछले दिनों के अपने एक भाषण में एक महत्वपूर्ण मुद्दा उठाया है जब वे वैज्ञानिक की 'उतावली' आशावादिता का जिसे वे 'साहित्यिक बुद्धिजीवी' कहते हैं उसकी 'दबी आवाज' और 'असामाजिक भावनाओं' से अंतर दिखाते हैं।[34] कुछ इतिहासकार, और ज्यादातर वे लोग जो इतिहासकार तो नहीं हैं मगर इतिहास लिखते हैं, इस 'साहित्यिक बुद्धिजीवी' वर्ग के ही हैं। वे हमें यह बताने में कि इतिहास एक विज्ञान नहीं है और यह कि इसे क्या नहीं करना या होना चाहिए, इतने व्यस्त हैं कि उनके पास इतिहास की उपलब्धियों और शक्तियों की ओर दृष्टिपात करने की भी फुर्सत नहीं है।

इस खाई को पाटने का एक और तरीका यह हो सकता है कि वैज्ञानिक और इतिहासकार के लक्ष्यों की समानता की गहरी समझ को बढ़ाया जाए। इतिहास तथा विज्ञान के दर्शन में बढ़ती हुई रुचि का खास महत्व है। वैज्ञानिक, समाज विज्ञानी और इतिहासकार एक ही अध्ययन, मनुष्य और उसके वातावरण, मनुष्य के उसके वातावरण पर पड़ने वाले प्रभाव और वातावरण के मनुष्य पर पड़ने वाले प्रभाव के अध्ययन की विभिन्न शाखाओं में कार्यरत हैं। इन अध्ययनों का उद्देश्य एक ही है कि मनुष्य को, उसके वातावरण की और गहरी जानकारी देना और वातावरण पर उसके प्रभुत्व को बढ़ाना। औषध विज्ञानी, भूगर्भ विज्ञानी, मनोवैज्ञानिक, और इतिहासकार के पूर्वानुमानों और पद्धतियों में विवरण के स्तर पर काफी अंतर है और मैं यह भी नहीं कहना चाहता कि अपने अध्ययन में ज्यादा वैज्ञानिक होने के लिए इतिहासकार को भौतिक विज्ञान की पद्धतियों का अनुसरण करना चाहिए। मगर इतिहासकार और भौतिक विज्ञानी दोनों ही व्याख्यायित

करने की लालसा के मूलभूत उद्देश्य में तथा प्रश्न और उत्तर की मूलभूत प्रकिया में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इतिहासकार, किसी भी और वैज्ञानिक की तरह, एक ऐसा प्राणी है जो लगातार पूछता रहता है 'ऐसा क्यों ?' मैं अपने अगले भाषण में उन तरीकों की समीक्षा करूंगा जिनसे वह इस प्रश्न को उठाता है और इसका उत्तर प्रस्तुत करने की कोशिश करता है ।

संदर्भ

1. बर्ट्रेंड रसेल : 'पोरट्रेट्स फ्राम मेमोरी', (1958), पृ० 20.
2. काफी पहले यानी 1874 में ही ब्रैडले ने इतिहास से विज्ञान का अंतर बताते हुए विज्ञान को समयहीन और 'शाश्वत' से जोड़ा था (एफ. एच. ब्रैडले : 'कलेक्टेड एसेजफ', 1935, पृ० 36).
3. थाट्स ऐंड डिटेल्स आन स्कार्सिटी (1975) 'दि वर्क्स आफ एडमंड बर्क' (1846), IV पृ० 270; बर्क का निष्कर्ष था कि 'सरकार के रूप में सरकारों का या धनिक के रूप में धनिकों का यह अधिकार नहीं है कि वे गरीबों को आवश्यक वस्तुएं मुहैय्या करें, जिनसे दैवी शक्ति ने कुछ समय के लिए उन्हें महरूम किया है'.
4. एम. आर. कोहेन और ई. नैगेल : 'इंट्रोडक्शन टु लाजिक ऐंड साइंटिफिक मेथड', (1934), पृ० 596.
5. सर चार्ल्स एलिस : ट्रिनिटी रिव्यू में (कैंब्रिज लेंट टर्म, 1960), पृ० 14.
6 मार्क्स एंगेल्स : 'गेसामटौसगाबे', I, vi, पृ० 179.
7. वार्नर सोंबर्ट : 'दि क्विंटेसेंस आफकैपिटलिज्म', (अंगरेजी अनुवाद, 1915), पृ० 354.
8. जी. सोरेल : मैटीरिम्रौक्स दे 'उने थियरी टू प्रोलितैरिएत', (1919), पृ० 7.
9. डा. जे. जिमैन : दि लिसनर में, 18 अगस्त, 1960.
10. पोयटिक्स, अध्याय ix.
11. आर. जी. कालिंगवुड : 'हिस्टारिकल इमैजिनेशन', (1935), पृ० 5.
12. लेवियाथन, I, iv.
13. 'डिक्लाइन ऐंड फ़ाल आफ दि रोमन इंपायर', अ० XX, अ० 1.
14. 'हिस्ट्री आफ दि फ्रेंच रिवोल्यूशन', I, v, अ० 9; III, i, अ० 1.
15. जे. बर्कहार्ट : 'जजमेंट्स आन हिस्ट्री ऐंड हिस्टोरियंस', (1959), पृ० 34.
16. 'कैंब्रिज माडर्न हिस्ट्री', ii (1958), पृ० 20.
17. मार्क्स और एंगेल्स : 'वर्क्स' (रूसी संस्करण), xv, पृ० 378, वह पत्र जिसमें से यह अंश उद्धृत है रूसी पत्रिका 'अतिच्येस्तविन्नियें जपिस्की' में 1877 में प्रकाशित हुआ था. प्रो. पापर मार्क्स को उस तथ्य से जोड़ते प्रतीत होते हैं जिसे वह 'इतिहासकारों की केंद्रीय त्रुटि' कहते हैं और जिसके पीछे यह विश्वास है कि ऐतिहासिक धाराओं और प्रवृत्तियों को 'केवल सार्वभौमिक नियमों के आधार पर आनन फानन में प्राप्त किया जा सकता है.' (दि पावर्टी आफ हिस्टोरिसिज्म, 1957, पृ० 128-129) : ध्यातव्य है कि मार्क्स ने स्वयं इसका विरोध किया है.
18. यही प्रो. पापर का भी दृष्टिकोण है (दि ओपेन सोसाइटी, द्वितीय संस्करण, 1952. ii, पृ० 322). दुर्भाग्यवश समाजशास्त्रीय नियम का लगे हाथों वह एक उदाहरण भी पेश

कर देते हैं; जहां कहीं भी विचार स्वातंत्र्य होगा, उसे व्यक्त करने की छूट होगी और कानूनी संस्थाओं द्वारा और ऐसी संस्थाओं द्वारा जो इससे संबंधित विवादों को प्रचारित करने का आश्वासन देती हैं इसे संरक्षण मिलेगा वहीं पर वैज्ञानिक प्रगति होगी. 'यह 1942 या 1943 में लिखा गया था. इसके पीछे यह विश्वास काम कर रहा था कि पाश्चात्य गणतंत्र अपनी संस्थागत व्यवस्था के कारण वैज्ञानिक प्रगति में आगे रहेंगे, हालांकि यह विश्वास इस बीच सोवियत रूस के विकास की रोशनी में गलत लगता है. नियम बनने की बात तो दूर रही यह तो मान्य सामान्यीकरण भी नहीं हो सकता.'

19. के. मैनहीम : 'आइडियालोजी ऐंड यूटोपिया', (अंगरेजी अनुवाद, 1936), 228.
20. 'कोर्स दे फिलोसोफी पोजिटिव' i, पृ॰ 51.
21. कार्ल मैनहीम : 'आइडियालोजी ऐंड यूटोपिया', (1936), पृ॰ 130.
22 लेखक ने इस तर्क को अपनी पुस्तक 'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन', 1917-1923, i, (1950), पृ॰ 42 पर उद्धृत किया है.
23. एम. सी. डी आर्सी : 'दि सेंस आफ हिस्ट्री : सेकुलर ऐंड सैक्रेड' (1959), पृ॰ 164. पोलिबिअस ने बहुत पहले यही बात कही थी : 'जहां कहीं भी घटित होने वाली घटनाओं के कारणों का पता लगाना संभव हो, हमें देवताओं का सहारा नहीं लेना चाहिए.' (के. वोन फ्रिट्ज द्वारा 'दि थ्यौरी आफ दि मिक्सड कांस्टीट्यूशन इन ऐंटिक्विटी न्यूयार्क', 1954, पृ॰ 390 पर उद्धृत).
24. रोजबेरी : 'नेपोलियन : दि लास्ट फेज', पृ॰ 364.
25 ऐक्टन : 'हिस्टोरिकल एसेज ऐंड स्टडीज', (1907), पृ॰ 505.
26. 'सर्वे आफ इंटरनेशनल अफेयर्स', 1935, ii, 3.
27. आई. बर्लिन : 'हिस्टोरिकल इनेविटैबिलिटी', पृ॰ 76-77.
सर आइसाया की मनोवृत्ति उन्नीसवीं सदी के उस कठोर पुराणपंथी न्यायविद फिट्स जेम्स स्टेफेन की याद दिलाता है : 'इस प्रकार फौजदारी कानून इस सिद्धांत पर आधारित है कि अपराधी से घृणा करना नैतिक रूप से उचित है—इस बात की आवश्यकता है कि अपराधियों से नफरत की जाए और उन्हें दिए गए दंड इस तरह के हों कि उनसे वह नफरत सामने आए और जहां तक कानून इस तरह के स्वस्थ तथा प्राकृतिक मनोभाव को प्रदर्शित करने की छूट दें वहां तक इन्हें प्रदर्शित किया जाए' ('ए हिस्ट्री आफ दि क्रिमिनल ला आफ इंग्लैंड', (1883), ii, पृ॰ 81-82, जिसका उद्धरण एल. रैजिनोविज कृत, सर जेम्स फिट्ज जेम्स स्टेफेन 1957, पृ॰ 30 पर दिया गया है) ये विचार अपराध विज्ञानी स्वीकार नहीं करते, लेकिन मेरा उनसे विरोध यह है कि भले और कहीं ये विचार उचित लगें इतिहास के फैसले पर लागू नहीं होते.
28. डी. नोवल्स : 'दि हिस्टोरियन ऐंड कैरेक्टर', (1955), पृ॰ 4-5, 12, 19.
29. बी. क्रोसे : 'हिस्ट्री ऐज दि स्टोरी आफ लिबर्टी', (अंगरेजी अनुवाद, 1941), पृ॰ 47.
30. 'पीपुल्स एत सिविलाइजेशंस, खंड xiv : नेपोलियन', पृ॰ 58.
31. मैक्सवेबर कृत 'एसेज इन सोसियोलोजी', (1947), पृ॰ 58 पर उद्धृत.
32. बोसवेल : 'लाइफ आफ डाक्टर जानसन', 1776 (एवरीमैन, संस्करण, ii, पृ॰ 20) स्पष्टवादिता का यही गुण है; बर्कहार्ट ('जजमेंट आन हिस्ट्री ऐंड हिस्टोरियंस', पृ॰ 85) विकास के शिकार हुए लोगों की 'निःशब्द आहों' पर आंसू बहाता है 'जो' उसके अनुसार 'उस विकास में केवल अपना हिस्सा चाहते थे', मगर वह खुद प्राचीन व्यवस्था के शिकार हुए उन

लोगों की भ्राहों के बारे में कुछ नहीं करता जिनके पास सुरक्षित रखने को कुछ नहीं होता.

33. डैनियल्सन को लिखा गया 24 फरवरी, 1893 का पत्र, कार्ल मार्क्स ऐंड फ्रीडरिक एंगेल्स : करेसापांडेंसेज 1846-1895 (1934), पृ० 510 से उद्धृत.
34. सी. पी. स्नो : 'दि टू कल्चर्स ऐंड दि साइंटिफिक रिवोल्यूशन', (1959), पृ० 4-8.

4

इतिहास में कार्य कारण संबंध

अगर दूध को कढ़ाही में उबलने के लिए डाल दें तो वह गर्म होकर उफन जाता है। ऐसा क्यों होता है, मुझे नहीं मालूम और न ही मैंने कभी इसकी वजह जानने की कोशिश की। अगर जोर देकर कोई मुझसे पूछे तो कहूंगा कि इसकी वजह दूध में उबलने की प्रवृत्ति का होना है। यह बात सही है, मगर इससे इस तथ्य पर कोई रोशनी नहीं पड़ती। मगर मैं कोई प्रकृति विज्ञानी तो हूं नहीं। इसी तरह कोई अतीत की घटनाओं के बारे में लिख-पढ़ सकता है, बिना यह जानने की कोशिश किए कि वे क्यों घटित हुईं या इसे मानकर संतुष्ट हो ले कि द्वितीय विश्व महायुद्ध इसलिए हुआ कि हिटलर युद्ध चाहता था। यह वाकई सच है मगर इससे उस घटना पर कोई रोशनी नहीं पड़ती। मगर तब ऐसे अध्ययनकर्ता को यह नहीं मानना चाहिए कि वह इतिहास का विद्यार्थी या इतिहासकार है। इतिहास के अध्ययन का अर्थ है उसके कारणों का अध्ययन। जैसाकि मैंने अपने पिछले भाषण में कहा, इतिहासकार लगातार यह प्रश्न पूछता रहता है कि 'ऐसा क्यों ?'-और जब तक उसे उत्तर पाने की उम्मीद रहती है, वह चुप नहीं बैठ सकता। महान इतिहासकार, या मुझे कहना चाहिए महान विचारक, वह आदमी है जो नई चीजों और नए संदर्भों के बारे में पूछता है; 'क्यों ?'

इतिहास के जनक हेरोडोटस ने अपनी कृति के आरंभ में अपने उद्देश्य को यों परिभाषित किया था : ग्रीक जाति और बर्बर जातियों के कारनामों को सुरक्षित रखने के लिए 'और इन सभी चीजों के अतिरिक्त खासतौर से उनके पारस्परिक युद्धों का कारण बताने के लिए।' प्राचीन विश्व में हेरोडोटस से सीख लेने वाले बहुत कम ही थे। यहां तक कि थ्यूसीडाइडीज पर भी यह आरोप लगाया जाता है कि उसे कारणों की स्पष्ट धारणा नहीं थी।[1] मगर अठारहवीं शताब्दी में जब आधुनिक इतिहास लेखन की नींव पड़ रही थी, मांटेस्क्यू ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'कंसिडरेशंस आन दि कालेज आफ दि ग्रेटनेस आफ दि रोमंस ऐंड आफ देयर राइज ऐंड डिक्लाइन' में आरंभ में यह सिद्धांत स्वीकार किया था कि 'प्रत्येक राजवंश के उत्थान राजत्वकाल और पतन के पीछे कुछ नैतिक या भौतिक अर्थात सामान्य कारण होते हैं' और यह भी कि 'जो कुछ भी घटित होता है इन्हीं कारणों के तहद होता है।' कुछ वर्ष बाद 'एस्परी दे लुआ' (कानून के नियम) में उसने अपनी इस धारणा को विकसित किया और इसे सामान्य सिद्धांत का रूप दिया। यह कल्पना फूहड़ थी कि 'अंधी नियति ने वे सभी प्रभाव उत्पन्न किए हैं, जिन्हें

हम अपने चारों ओर की दुनिया में देखते हैं।' मनुष्य अपनी फंतासियों द्वारा असमान रूप से शासित नहीं होता है; बल्कि मनुष्य का व्यवहार 'वस्तुओं के स्वभाव'[2] से उद्भूत किन्हीं नियमों और सिद्धांतों द्वारा निदेशित होता है। इसके बाद प्राय: 200 वर्षों तक इतिहासकार और इतिहास दार्शनिक इस कोशिश में लगे रहे कि मानव जाति के विगत अनुभवों को क्रमबद्ध करके ऐतिहासिक घटनाओं के कारणों का पता लगाया जाए और उनको निदेशित करने वाले नियमों का आविष्कार किया जाए। इन कारणों और नियमों को कभी मशीनी तो कभी जैविक, कभी आधिभौतिक, कभी आर्थिक तो कभी मनोवैज्ञानिक शब्दावली में सोचा गया। मगर यह एक सर्वस्वीकृत सिद्धांत था कि अतीत की घटनाओं को क्रमबद्धता देकर कारण और प्रभाव के क्रम से रखना ही इतिहास है। विश्वकोश में संकलित इतिहास पर अपने लेख में वाल्टेयर लिखता है: 'अगर तुम्हारे पास कहने के लिए इसके अलावा कुछ नहीं है कि आक्सस और जाक्सार्टिस के तटों पर एक बर्बर शासक को मार कर दूसरे ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया, तो उससे हमें कोई लाभ नहीं है।' पिछले कुछ वर्षों में तस्वीर थोड़ी बदली है। पिछले भाषण में जिनकी मैं चर्चा कर चुका हूं आजकल उन्हीं कारणों से हम ऐतिहासिक नियमों की बात नहीं कर रहे हैं और 'कारण' शब्द भी पुराना पड़ गया है। इसका एक आंशिक कारण तो कुछ दार्शनिक अस्पष्टताएं हैं जिनकी चर्चा मैं यहां नहीं करना चाहता और इसका दूसरा आंशिक कारण है नियतिवाद के साथ इसका अनुमानाश्रित संबंध, जिसकी चर्चा अभी मैं करूंगा। अतएव कुछ लोग इतिहास में 'कारण' को नहीं, बल्कि 'व्याख्या' और 'भाष्य' या 'परिस्थिति के तर्क' या 'घटनाओं के आंतरिक तर्क' (यह डिसी का मत है) या कारण संबंधी दृष्टिकोण (यानी ऐसा क्यों हुआ) को कार्यात्मक दृष्टिकोण (यह कैसे हुआ) के पक्ष में त्याज्य मानते हैं। यद्यपि इस प्रश्न के साथ भी अनिवार्य रूप से 'यह कैसे घटित हुआ' का प्रश्न जुड़ा हुआ है सो हमें यह वापस उसी प्रश्न के सम्मुख ला खड़ा करता है कि 'क्यों?' दूसरे लोग 'कारण' के वर्गों में भेद करते हैं जैसे मशीनी, जैविक, मनोवैज्ञानिक इत्यादि इत्यादि, और ऐतिहासिक कारण को अलग से एक वर्ग मानते हैं। यद्यपि कारण के विभिन्न स्वरूपों का अंतर एक सीमा तक मान्य है, फिर भी हमारे प्रस्तुत उद्देश्य के लिए जो तत्व उन्हें अलग करते हैं, उनके स्थान पर जो तत्व प्रत्येक में समान मान से उपस्थिति होते हैं उन पर ही जोर देना ज्यादा लाभप्रद होगा। स्वयं मैं 'कारण' शब्द को लोकप्रिय अर्थ में लूंगा और अन्य विशिष्ट सूक्ष्मताओं को नजरअंदाज करूंगा।

आइए हम यहां से शुरू करें कि जब घटनाओं को कारण प्रदान करने की स्थिति सामने आती है तो इतिहासकार वस्तुत: क्या करता है। 'कारण' की समस्या पर इतिहासकार के रुख की विशेषता यह होती है कि वह एक ही ऐतिहासिक घटना

के कई कारण सामने रखता है। अर्थशास्त्री मार्शल ने एक बार लिखा था कि 'बिना अन्य कारणों पर ध्यान दिए…किसी एक कारण के प्रभाव पर केंद्रित होने से लोगों को सावधान करने के लिए हर संभव उपाय करने चाहिए क्योंकि प्रभाव में अन्य कारणों का भी हाथ होता है जो मुख्य कारण के साथ मिला होता है।'[3] '1977 में रूसी क्रांति क्यों हुई ?' इस प्रश्न का उत्तर लिखने बैठा इतिहास का परीक्षार्थी अगर उसका एक ही कारण देता है तो तृतीय श्रेणी पा जाना उसके लिए सौभाग्य की बात होगी। इतिहासकार एक से अधिक कारणों की खोज करता है। अगर उसे बोल्शेविक क्रांति की समस्या पर चर्चा करनी है तो वह रूस की लगातार होने वाली सैनिक पराजयों, युद्धों के दबाव में ध्वस्त होती हुई रूस की आर्थिक स्थिति, बोल्शेविकों के प्रभावी प्रचार, कृषि समस्याओं का समाधान करने में जार सरकार की विफलता, पेत्रोग्राद के कारखानों में बेहद गरीब और शोषित मजदूरों का समूहीकरण, यह तथ्य कि लेनिन जानते थे कि वे क्या चाहते थे, जबकि उनके विपक्षी नहीं, और इन जैसे ही अनेक कारणों, संक्षेप में कहें तो आर्थिक, राजनीतिक, सैद्धांतिक और व्यक्तिगत, दूर प्रभावी और निकट प्रभावी कारणों का एक समूह प्रस्तुत करेगा। मगर इसके बाद हम इतिहासकार के रुख की दूसरी विशेषता पर आते हैं। उपरोक्त प्रश्न के उत्तर में जो परीक्षार्थी एक के बाद दूसरे एक दर्जन कारणों की सूची प्रस्तुत करके प्रश्न को उत्तरित समझ ले, संभवतः द्वितीय श्रेणी पा जाए, मगर प्रथम श्रेणी नहीं पाएगा; संभवतः उसके बारे में परीक्षक की राय होगी; 'सूचनाएं काफी हैं परंतु कल्पना नहीं है।' एक सच्चा इतिहासकार न केवल कारणों की सूची बनाएगा, बल्कि उन्हें क्रमबद्ध और व्यवस्थित करने की बाध्यता भी महसूस करेगा। कारणों को महत्व के आधार पर श्रेणीबद्ध करेगा, एक दूसरे से उनके संबंध निश्चित करेगा और संभवतः यह तय करेगा कि कौन सा कारण या कारण समूह, 'अंतिम आधार' या 'अंतिम विश्लेषण का आधार' (इतिहासकारों के प्रिय मुहावरे), प्रमुख कारण या सभी कारणों का कारण है। यही उक्त विषयवस्तु की उसकी अपनी व्याख्या है। जिन कारणों को एक इतिहासकार मान्यता देता है, उन्हीं से वह जाना जाता है। गिबन ने रोमन साम्राज्य के ह्रास और पतन का कारण बर्बरता और धर्म की विजय बताया था। उन्नीसवीं सदी के ह्विग इतिहासकारों ने ब्रिटिश शक्ति के उत्कर्ष का श्रेय ऐसी संस्थाओं के विकास को दिया है जो सांविधानिक स्वतंत्रता पर आधारित थीं। आज गिबन और उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रिटिश इतिहासकार पुराने प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने आर्थिक कारणों की उपेक्षा की है, जिसे आज के इतिहासकार सर्वप्रथम स्थान देते हैं। इतिहास संबंधी प्रत्येक तर्क कारणों की प्राथमिकता के प्रश्न के इर्द-गिर्द घूमता रहता है।

हेनरी प्वायंकेयर अपने ग्रंथ में, जिसका उद्धरण मैं अपने पिछले भाषण में दे

चुका हूं, कहता है कि विज्ञान 'विविधता और जटिलता की ओर' और 'एकता और सरलता की ओर' साथ साथ बढ़ रहा था और यह द्विपक्षीय और परस्पर विरोधी सी लगने वाली प्रक्रिया ही ज्ञान के लिए आवश्यक शर्त थी।[4] इतिहास के बारे में भी यह उतना ही सच है। अपने शोध को व्यापकतर और गंभीरतर करते हुए इतिहासकार मूल प्रश्न 'क्यों' के अधिकाधिक उत्तर इकट्ठे करता रहता है। पिछले वर्षों में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, और कानूनी इतिहासों के उन्मेष ने राजनीतिक इतिहास की जटिलताओं और मनोविज्ञान तथा सांख्यिकी की नई तकनीकों के साथ मिलकर इन उत्तरों की संख्या और परिसीमा में पर्याप्त वृद्धि की है। बर्ट्रेंड रसेल ने जब कहा था कि 'किसी विज्ञान के क्षेत्र में जो उन्नति होती है, वह हमें उन स्थूल सारूप्यताओं से दूर ले जाती है जो हमें पूर्ववृत्त और परिणाम के वृहत्तर अंतरों में और प्रासंगिक मानकर स्वीकृत पूर्ववृत्तों के लगातार बढ़ते हुए वृत्त में दिखाई पड़ते हैं'[5], तो वह इतिहास की स्थिति का सही विवेचन किया था। मगर अतीत को समझने की अपनी उत्कंठा में, वैज्ञानिक की तरह इतिहासकार भी इसके लिए बाध्य होता है कि वह अपने उत्तरों की बहुविधता का सरलीकरण करे, एक उत्तर को दूसरे के अधीन करके देखे, और घटनाओं तथा विशिष्ट कारणों के घटाटोप में एक आंतरिक समरूपता तथा व्यवस्था की खोज करे। 'एक ईश्वर, एक नियम, एक तत्व और एक सुदूर दैवी घटना', या हेनरी ऐडम की खोज जिसका लक्ष्य 'कोई महान सामान्यीकरण होता है, जो आदमी की शिक्षित होने की बेकली को समाप्त कर देता है'[6], यह सब आजकल किसी पुराने मजाक जैसा लगता है। फिर भी यह सच है कि इतिहासकार को सरलीकरण और कारणों की बहुविधता के बीच काम करना पड़ता है। विज्ञान की तरह इतिहास भी इस दोहरी और वाह्य रूप से परस्पर विरोधी प्रक्रिया से गुजरता है।

अब मैं, बेमन से सही, उन दो मुहावरों का जायका लेना चाहूंगा जो हमारे रास्ते में आ रहे हैं। इनमें से एक है 'इतिहास में नियतिवाद; या हीगेल की धृष्टता' और दूसरा है 'इतिहास में संयोग; या क्लियोपेट्रा की नाक'। पहले मैं यह बताना चाहूंगा कि ये मुहावरे यहां कैसे आए। प्रो० कार्ल पापर ने, जिन्होंने 1930 में वियना से विज्ञान में नवीनता से संबंधित एक भारी भरकम पुस्तक लिखी थी (जिसका अंगरेजी अनुवाद 'दि लाजिक आफ साइंटिफिक इंक्वायरी' नाम से पिछले दिनों छपा है), युद्ध के समय अंगरेजी में दो लोकप्रिय पुस्तकें लिखीं : 'दि ओपेन सोसाइटी ऐंड इट्स एनिमीज' और 'दि पावर्टी आफ हिस्टोरिसिज्म।'[7] ये पुस्तकें हीगेल के विरुद्ध तीव्र संवेगात्मक प्रतिक्रिया में लिखी गई थीं, जिसे लेखक ने प्लेटो के साथ नात्सीवाद का आध्यात्मिक पूर्वपुरुष माना था। इनमें छिछले मार्क्सवाद का भी विरोध था जो 1930 के दशक में ब्रिटिश वाम का बौद्धिक आधार और वातावरण था। इन पुस्तकों के विरोध का लक्ष्य हीगेल तथा

मार्क्स का तथाकथित नियतिवादी इतिहास दर्शन था, जिसे एक साथ 'इतिहास-वाद'[8] नाम दिया गया था। 1954 में सर आइसाया बर्लिन ने अपना 'हिस्टोरिकल इनएविटेबिलिटी' शीर्षक निबंध प्रकाशित किया। उन्होंने प्लेटो पर आक्रमण नहीं किया, शायद आक्सफोर्ड संस्थान[9] के इस प्राचीन स्तंभ के प्रति उनके मन में थोड़ी श्रद्धा बची रह गई थी, मगर पापर के उस पुराने अभियोग पत्र में उन्होंने एक दलील और जोड़ी कि हीगेल और मार्क्स का 'इतिहासवाद' काबिले एतराज है क्योंकि मानवीय व्यवहार कार्य कारण परक व्याख्या स्वतंत्र मानवीय इच्छाशक्ति के अस्वीकार पर खड़ा है और इतिहासकार को उसके अनुमानित दायित्व (जिसकी चर्चा मैं अपने पिछले भाषण में कर चुका हूं) से विमुख होने के लिए उत्साहित करता है और इतिहास के चार्लमैनों, नेपोलियनों और स्तालिनों की नैतिक भर्त्सना करने से उसे रोकता है। इसके अलावा और ज्यादा परिवर्तन उन्होंने नहीं किया था। सर बर्लिन एक बहुपठित तथा बहुप्रशंसित लेखक हैं जो उचित भी है। पिछले पांच छः वर्षों में, इस देश या अमरीका के प्रायः प्रत्येक उस व्यक्ति ने जिसने इतिहास से संबंधित एक भी निबंध लिखा है, या किसी गंभीर इतिहास कृति की समीक्षा लिखी है, हीगेल और मार्क्स के नियतिवाद पर चोंच मारी है और इतिहास में संयोग की भूमिका को स्वीकार न करने की उनकी भूल की ओर इशारा किया है। सर बर्लिन को उनके शिष्यों की गलतियों के लिए दोषी ठहराना उचित नहीं है। जब वे बकवास करते होते हैं तब भी अपनी बात वे इतनी आकर्षक और सारगर्भित लहजे में कहते हैं कि बरबस हमें उधर ध्यान देना पड़ता है। उनके शिष्य बकवास को तो दुहराते हैं, मगर उसे आकर्षक नहीं बना पाते। जो भी हो, इसमें नया कुछ भी नहीं है। चार्ल्स किंग्सले, जिन्हें आधुनिक इतिहास के रेगिअस प्रोफेसरों में ऊंचा स्थान नहीं दिया जा सकता और जिन्होंने संभवतः कभी हीगेल को नहीं पढ़ा होगा और शायद मार्क्स का नाम भी न सुना हो, 1860 के अपने उद्घाटन भाषण में कहते पाए गए हैं कि आदमी की 'अपने अस्तित्व के नियमों को तोड़ने की रहस्यमय शक्ति' इस तथ्य का प्रमाण है कि इतिहास में कोई 'अनिवार्य क्रमबद्धता' सभव नहीं है।[10] किंतु सौभाग्य से हम किंग्सले को भूल गए हैं। प्रो० पापर और सर बर्लिन ने मिलकर इस गड़े मुर्दे को पीट पीटकर जिंदा किया है। इस कीचड़ को साफ करने के लिए थोड़े धैर्य की जरूरत होगी।

पहले मैं नियतिवाद को लेता हूं। मैं अविवादास्पद ढंग से इसको परिभाषित करना चाहूंगा। नियतिवाद, एक विश्वास है कि जो कुछ भी घटित होता है उसके एक या कई कारण होते हैं और वह किसी कारण या कारणों के भिन्न हुए बिना भिन्न तरीके से घटित नहीं हो सकता था।[11] नियतिवाद इतिहास की ही नहीं संपूर्ण मानव व्यवहार की समस्या है। ऐसा मानव जिसके कार्य कारण विहीन होते हैं और इसीलिए अनियत होते हैं, एक ऐसा अमूर्त मानव है, जैसाकि

असामाजिक (समाज के बाहर स्थित) 'व्यक्ति' जिसकी चर्चा मैं अपने एक पिछले भाषण में कर चुका हूं। प्रो० पापर जोर देकर कहते हैं कि 'मानवीय कार्यव्यापार में कुछ भी संभव है।'[12] यह वक्तव्य या तो अर्थहीन है या मिथ्या। कोई भी सामान्य जीवन में इस वक्तव्य पर विश्वास नहीं करता या कर सकता है। यह मान्यता कि हर कार्य के पीछे एक कारण होता है, हमारे चारों ओर जो कुछ हो रहा है उसको समझने की एक शर्त है।[13] काफ्का के उपन्यासों का दुस्वप्न गुण इस तथ्य पर आधारित है कि जो कुछ भी हो रहा है उसका कोई स्पष्ट करण नहीं है, या ऐसा कारण नहीं है जिसको प्रमाणित किया जा सकता हो। इससे मानव व्यक्तित्व का पूर्ण विघटन हो जाता है, जिसका आधार यह अनुमान है कि कार्यों के पीछे कारण होते हैं और इनमें से पर्याप्त कारणों की पुष्टि की जा सकती है जिससे मानव मस्तिष्क में वर्तमान और अतीत से संबंधित ऐसे स्पष्ट पैटर्न बन जाते हैं, जो मानवीय कार्यव्यापार को निदेशित करते हैं। अगर यह न मान लिया जाए कि मानवीय व्यवहार उन कारणों द्वारा निदेशित होते हैं जिनकी सिद्धांततः पुष्टि की जा सकती है तो रोजमर्रा का जीवन असंभव हो उठेगा। एक समय था कि कुछ लोग प्राकृतिक परिदृश्य के कारणों की जांच को पाप मानते थे क्योंकि उनकी मान्यता थी कि प्राकृतिक उत्पादन दैवी इच्छा के अधीन हैं। मानवीय व्यवहार की हमारी कार्य कारण व्याख्या के प्रति सर बर्लिन का विरोध, जिसका आधार मानवीय कार्यों के पीछे कार्यरत मानवीय इच्छा का सिद्धांत है, उपरोक्त दैवी इच्छाशक्ति के स्तर की धारणा है और शायद इस बात का संकेत देती है कि समाज विज्ञानों का विकास आज भी उतना ही हुआ है जितना प्रकृति के विज्ञानों का उन दिनों हुआ था, जब उन पर दैवी इच्छाशक्ति के विरुद्ध कार्य करने का आरोप लगाया गया था।

आइए देखें रोजमर्रा की जिंदगी में हम इस समस्या को कैसे सुलझाते हैं। अपने नित्यकर्म के सिलसिले में आपकी मुलाकात स्मिथ से होती है। मौसम या कालेज या विश्वविद्यालय की स्थिति के बारे में एक निहायत अर्थहीन परंतु मित्रतापूर्ण टिप्पणी के साथ आप उसका अभिवादन करते हैं और उतने ही अर्थहीन परंतु मित्रतापूर्ण उत्तर के साथ आपका अभिवादन स्वीकार करता है। मगर मान लीजिए एक सुबह रोज की तरह आपकी टिप्पणी का उत्तर देने के बदले वह आपके चरित्र या आपकी शक्ल-सूरत की बेहद तीखी आलोचना शुरू कर दे। क्या आप सिर्फ उपेक्षा में कंधे उचका कर रह जाएंगे और इसे स्मिथ की स्वतंत्र इच्छाशक्ति का प्रामाणिक प्रदर्शन मानकर स्वीकार कर लेंगे कि मानवीय कार्य-व्यापार में कुछ भी संभव है। आप ऐसा करेंगे इसमें मुझे शक है। इसके विपरीत शायद आप कुछ इस तरह की बात कहेंगे : 'बेचारा स्मिथ! आप तो जानते है, उसके बाप की मौत पागलखाने में हुई थी।' या 'बेचारा स्मिथ! शायद इन दिनों

बीबी उसे काफी परेशान कर रही है।' दूसरे शब्दों में आप अपने इस दृढ़ विश्वास के तहद कि उस स्पष्टत: अकारण व्यवहार के पीछे निश्चय ही कोई गुप्त कारण है उस कारण का पता लगाने की कोशिश करेंगे। और मुझे डर है कि ऐसा करके आप सर बर्लिन के कोपभाजन बनेंगे, जो आपके विरुद्ध तीव्र प्रतिवाद करेंगे कि स्मिथ के व्यवहार का कारण खोजकर आपने हीगेल और मार्क्स की नियतिवादी धारणा को निगल लिया है और इस तरह स्मिथ की धृष्टता की निंदा करने के दायित्व का पालन करके पीछा छुड़ा रहे हैं। मगर रोजमर्रा की जिंदगी में कोई ऐसा नहीं सोचता, न ही यह मानता है कि नियतिवाद या नैतिक दायित्व दांव पर चढ़ा हुआ है। वास्तविक जीवन में स्वतंत्र इच्छाशक्ति और नियतिवाद की दुविधा होती ही नहीं। ऐसा नहीं है कि कुछ मानवीय कार्य स्वतंत्र और दूसरे नियत होते हैं। दरअस्ल सारे मानवीय कार्यव्यापार नियत भी हैं और स्वतंत्र भी और इस बात पर निर्भर करते हैं कि उन्हें देखने का आपका दृष्टिकोण क्या है। व्यवहार का प्रश्न फिर भी और तरह का है। स्मिथ के व्यवहार के पीछे एक या एकाधिक कारण हो सकते हैं लेकिन जिस सीमा तक उसका व्यवहार किसी वाह्य दबाव के कारण नहीं, बल्कि उसके व्यक्तित्व की अपनी बाध्यता से पैदा हुआ था, उसी सीमा तक वह अपने व्यवहार के लिए नैतिक रूप से जिम्मेदार था क्योंकि सामा-जिक जीवन की यह एक शर्त है कि आम बालिग मनुष्य अपने व्यक्तित्व के लिए नैतिक रूप से जिम्मेदार होते हैं। इस खास घटना में आप उसे जिम्मेदार ठहराएं या नहीं यह आपके व्यावहारिक निर्णय पर निर्भर है। मगर आप ऐसा करें तो भी इसका यह अर्थ नहीं होगा कि आप उसके इस व्यवहार को अकारण मान रहे हैं: कारण और नैतिक दायित्व दो अलग श्रेणी की चीजें हैं। हाल ही में इस विश्वविद्यालय में अपराध विज्ञान का एक संस्थान और एक चेयर स्थापित की गई है। मुझे पूरा विश्वास है कि जो लोग अपराध के कारणों के शोध में लगे हुए हैं उनमें से किसी को भी ऐसा नहीं लगेगा कि ऐसा करके वे अपराधी की नैतिक जिम्मेदारी को अस्वीकार करने के लिए प्रतिबद्ध हैं। आइए अब हम इतिहासकार पर दृष्टिपात करें। आम आदमी की तरह वह विश्वास करता है कि मानवीय कार्यव्यापार के पीछे कारण होते हैं, जिनकी पुष्टि की जा सकती है। दैनिक जीवन की तरह इतिहास भी असंभव हो जाए अगर यह मान न लिया जाए। इन कारणों की जांच करना इतिहासकार का विशेष कर्तव्य है। इससे यह सोचा जा सकता है कि उन्हें मानव व्यवहार के कार्य कारण परक या नियत स्वरूप से ज्यादा रुचि होगी; मगर वह स्वतंत्र इच्छाशक्ति को रद्द नहीं करता, सिवाय इस अमान्य कल्पना के कि ऐच्छिक कार्यों के पीछे कोई कारण नहीं होता। अनि-वार्यता के प्रश्न से भी उसे कोई परेशानी नहीं होती। औरों की तरह इतिहासकार भी कभी कभी पिटी पिटाई मुहावरेबाजी के शिकार हो जाते हैं और किसी घटना

को 'अनिवार्य' कह डालते हैं, जबकि इससे उनका उद्देश्य सिर्फ यह कहना होता है कि तथ्यों का संघटन ऐसा था कि उससे इसकी अवश्यंभाविता की बेहद संभावना थी। हाल ही में मैंने अपनी पुस्तकों में इस धृष्ट 'शब्द' की खोज की और मैं खुद को निर्दोषी होने का प्रमाणपत्र नहीं दे सकता। एक अनुच्छेद में मैंने लिखा था कि 1917 की क्रांति के बाद बोल्शेविकों और 'आर्थोडक्स चर्च' में संघर्ष 'अनिवार्य' था। संदेह नहीं कि अनिवार्य के स्थान पर 'बेहद संभाव्य' लिखना ज्यादा बुद्धिमत्तापूर्ण होता। मगर क्या मुझे माफ किया जाएगा अगर मुझे यह संशोधन थोड़ा पंडिताऊ लगे? व्यवहारत: इतिहासकार किसी घटना को तब तक अनिवार्य नहीं मानते जब तक वह वस्तुत: घटित नहीं हो जाती। वे कहानी के अभिनेताओं के समक्ष उपस्थित विकल्पों की लगातार चर्चा करते हैं, जिसके पीछे यह मान्यता होती है कि उनके सामने विकल्प थे, हालांकि वे आगे चलकर इस तथ्य की व्याख्या करते हैं कि प्रस्तुत विकल्पों में से एक को क्यों छोड़ा और दूसरे को क्यों चुना, और ऐसा करना सही भी है। इतिहास में कुछ भी अनिवार्य नहीं होता सिवाय एक औपचारिक अर्थ में कि अगर यह घटना किसी और तरह से घटित होती तो उसके कारणों को निश्चय ही भिन्न होना चाहिए था। एक इतिहासकार के रूप में मेरा काम 'अनिवार्य', 'अपरिहार्य', 'अटल' और 'अपरित्याज्य' तक के बिना भी चल सकता है। जीवन थोड़ा नीरस हो जाएगा, मगर रस की बातें हम कवियों और अध्यात्मवादियों के लिए छोड़ दें।

अनिवार्यता का यह आरोप इतना बेमतलब और फलहीन लगता है, और पिछले वर्षों में इसकी प्रचंड चर्चा हुई है कि मैं सोचता हूं इसके पीछे छिपे उद्देश्यों की खोज करनी चाहिए। मुझे शक है कि इसका प्रमुख स्रोत इतिहासकारों की वह शाखा है जिसे मैं 'ऐसा होना चाहिए था' स्कूल के या भावुक स्कूल के इतिहासकार कहूंगा। यह पूरी तौर से समकालीन इतिहास से जुड़ा हुआ है। कैंब्रिज के पिछले सत्र में किसी सोसाइटी द्वारा एक वार्ता का विज्ञापन किया गया था जिसका विषय था 'क्या रूसी क्रांति अनिवार्य थी?' मेरा विश्वास है कि इस वार्ता का उद्देश्य गंभीर चर्चा थी। परंतु आप अगर किसी वार्ता का विज्ञापन देखें जिसमें लिखा हो 'क्या वार आफ रोजेज अनिवार्य थी', तो निश्चय ही तुरंत आपको उसके पीछे मजाक का शक होगा। नार्मन विजय के बारे में या अमरीकी स्वतंत्रता संग्राम के बारे में इतिहासकार इस तरह लिखता है जैसे जो हुआ, उसका होना अनिवार्य था और जैसे कि उसका काम है सिर्फ यह बतलाना कि क्या हुआ और क्यों हुआ। कोई उस पर नियतिवादी होने या वैकल्पिक संभावना को नजरअंदाज करने का आरोप नहीं लगाता कि हो सकता है 'विलियम दी कांकरर' (विजेता विलियम) या अमरीकी विद्रोही हार जाते। हालांकि जब मैं इसी पद्धति से 1917 की रूसी क्रांति के विषय में लिखता हूं तो मेरे आलोचक मेरे ऊपर हमला करते हैं कि मैंने,

जो कुछ हुआ उसे इस तरह पेश किया है कि वही हो सकता था या वैसा होना अनिवार्य था और मैंने अन्य विकल्पों की परीक्षा नहीं की जो घटित हो सकते थे। कहा जाता है कि मान लीजिए स्टोलिपिन को कृषि सुधार करने का समय मिला होता या रूस युद्ध में न पड़ता तो शायद क्रांति न हुई होती या मान लीजिए कि करेंस्की सरकार सफल हुई होती और क्रांति का नेतृत्व बोल्शेविकों के बदले मेंशेविकों या सामाजिक क्रांतिकारियों के हाथ आया होता तो क्या होता? ये संभावनाएं सिद्धांत रूप में अनुमान की सीमा में आती हैं और कोई भी इतिहास के 'ऐसा होना चाहिए था' का खेल खेल सकता है। मगर इन संभावनाओं का नियतिवाद से कोई संबंध नहीं है क्योंकि नियतिवाद तो यह कहकर मुक्त हो जाएगा कि इन विकल्पों के घटित होने के लिए, इनके कारण भी भिन्न होने जरूरी थे। इन विकल्पों का इतिहास से भी कोई संबंध नहीं होता। मुद्दा यह है कि आज कोई भी नार्मन विजय और अमरीकी स्वतंत्रता संग्राम को पलट देने के बारे में गंभीरता से नहीं सोचता या इन घटनाओं के विरुद्ध तीखा प्रतिवाद नहीं करना चाहता और कोई भी ऐतराज नहीं करता जब इतिहासकार इन घटनाओं को एक समाप्त अध्याय मान लेता है। लेकिन काफी लोग जो बोल्शेविक क्रांति के परिणामों से सीधे या सांकेतिक रूप से दुखी हो चुके हैं या अभी भी इसके दूरगामी परिणामों से भयभीत हैं, इसके विरुद्ध अपना प्रतिवाद घोषित करते हैं और जब वे इतिहास पढ़ते हैं तो उनकी कल्पना उन सभी दिशाओं में बगटुट दौड़ती है, जो उनके लिए स्वीकार्य था या जैसाकि उनके अनुसार होना चाहिए था और ऐसे ही लोग इतिहासकार की लानत मलामत करने को तैयार रहते हैं, जबकि इतिहासकार का दोष सिर्फ इतना है कि वह शांत भाव से यह बताकर अपने दायित्व का पालन करता होता है कि क्या और क्यों घटित हुआ और उनको स्वीकार्य दिवास्वप्न क्यों अधूरे रह गए। समकालीन इतिहास की कठिनाई यह है कि लोग उस समय को स्मरण रखते हैं जब सारे विकल्प उपलब्ध थे और उनके लिए इतिहासकार के दृष्टिकोण को अपनाना कठिन लगता है जिसके अनुसार सारे विकल्प निर्विवाद तथ्यों द्वारा समाप्त कर दिए गए हैं। यह शुद्ध रूप से भावुकतापूर्ण और गैरऐतिहासिक प्रतिक्रिया है। किंतु 'ऐतिहासिक नियतिवाद' के तथाकथित सिद्धांत के विरोध में पिछले दिनों जो आंदोलन शुरू हुआ है, उसके लिए ज्यादातर मसाला इसी मान्यता से प्राप्त हुआ है। हमें चाहिए कि हम हमेशा के लिए इस संदेह को अपने मन से निकाल फेंकें।

हमले का दूसरा स्रोत है प्रसिद्ध पहेली 'क्लिओपेट्रा की नाक'। यह वह सिद्धांत है जिसके अनुसार, इतिहास कमोबेश संयोगों का एक अध्याय है, घटनाओं का एक ऐसा क्रम जिसका निर्णय संयोग करते हैं और जिनके कारण बेहद सामान्य होते हैं। ऐक्टिअम के युद्ध का फल उन कारणों पर आधारित नहीं था जिनका ब्यौरा

इतिहासकार पेश करते हैं, बल्कि क्लिओपेट्रा के प्रति एंटनी के आकर्षण पर आधारित था। जब गठियाग्रस्त होने के कारण बजाजेट मध्य यूरोप पर हमला करने में असमर्थ रहा तो उसके संबंध में गिबन का अभिमत है कि 'एक व्यक्ति के किसी अंग विशेष पर त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) का प्रकोप होने से राष्ट्रों की विपत्ति रुक या टल सकती है।'[14] जब 1920 की शरद ऋतु में यूनान के राजा अलेक्जेंडर की अपने पालतू बंदर के काट खाने से मौत हो गई तो इस दुर्घटना ने घटनाओं का एक ऐसा क्रम चला दिया, जिसके बारे में सर विंस्टन चर्चिल का कथन था कि 'इस बंदर के काटने से करीब ढाई लाख आदमी मारे गए।'[15] या फिर हम ट्राट्स्की के उस अभिमत को लें, जो उसने उस वक्त व्यक्त किया था, जब 1923 की शरद ऋतु में वह बत्तखों के शिकार करते समय ज्वारग्रस्त होने के कारण जिनोविएव, कामेनेव और स्टालिन के साथ छिड़े हुए संघर्ष की चरम स्थिति में निष्क्रिय होने को बाध्य हो गया था। वक्तव्य था: 'किसी क्रांति या युद्ध का पहले से अंदाजा लगाया जा सकता है, मगर जंगली बत्तखों के शिकार के शरदकालीन सफर के परिणामों का पहले से अंदाजा लगाना असंभव है।'[16] पहली बात जो मुझे स्पष्ट करनी है वह यह है कि इस प्रश्न का 'नियतिवाद' के मुद्दे से कोई संबंध नहीं है। क्लिओपेट्रा के प्रति एंटनी का आकर्षण, बजाजेट का गठियाग्रस्त हो जाना या ट्राट्स्की का जाड़ाबुखार इन सारी घटनाओं के पीछे कार्य कारण संबंध उसी प्रकार कार्यरत थे जैसे किसी भी और घटना के पीछे होते हैं। हमारा यह कहना कि एंटनी के आकर्षण का कोई कारण न था, क्लिओपेट्रा के सौंदर्य का अनावश्यक रूप से असम्मान करना होगा। स्त्री के सौंदर्य के प्रति पुरुष की आसक्ति हमारे दैनंदिन जीवन में कार्य कारण संबंध का एक अत्यंत स्पष्ट दिखाई पड़ने वाला सिलसिला है। इतिहास में इस तरह की दुर्घटनाएं कार्य कारण संबंध के ऐसे सिलसिले का प्रतिनिधित्व करती हैं जो इतिहासकार की जांच के सिलसिले को बाधित करते हैं या उसके साथ टकराते हैं। बरी ठीक कहता है कि यह 'दो स्वतंत्र कार्य कारण शृंखलाओं की टक्कर है।'[17] ऐतिहासिक अनिवार्यता पर सर आइसाया बर्लिन का 'इतिहास के संयोगपरक दृष्टिकोण' पर आधारित बर्नार्ड बेरेंसन के एक लेख की तारीफ से शुरू होता है। सर आइसाया बर्लिन उनमें से एक लगते हैं जो दुर्घटना के इस स्वरूप के साथ कार्य कारण निर्धारण के अभाव को गडमड करके देखते हैं। मगर इस विभ्रम के अतिरिक्त हमारे सामने एक वास्तविक समस्या है इतिहास में कार्य कारण सिलसिले की संगति का अनुसंधान कैसे किया जाए, हम इतिहास में कोई अर्थ कैसे पाएं, और जबकि हमारा सिलसिला किसी भी क्षण किसी और सिलसिले द्वारा, जो हमारी दृष्टि में असंगत लगता है, तोड़ा या विकृत किया जा सकता है?

अब हम यहां एक पल थमकर इतिहास में संयोग की भूमिका पर जोर देने की व्यापक और हाल की प्रवृत्ति को देखें। पोलिबस पहला इतिहासकार है जो

इस धारणा के साथ व्यवस्थित ढंग से जुड़ा हुआ प्रतीत होता है। और गिबन ने तो इसका कारण समझने में जरा देर नहीं की। उसका मंतव्य है कि 'यूनानियों ने अपने राज्य के सिकुड़कर एक जिले में सीमित हो जाने पर रोम की विजय को उसकी श्रेष्ठता के साथ जोड़ने के बदले गणराज्य के भाग्य के साथ जोड़कर देखा।'[18] अपने देश के विघटन का इतिहासकार टैसिटस दूसरा प्राचीन इतिहासकार था जिसने संयोग पर विस्तृत विचार प्रगट किए हैं। ब्रिटिश इतिहासकारों में इतिहास में संयोग के महत्व पर बल देने की प्रवृत्ति का पुनरारंभ अनिश्चय तथा आशंका की मनस्थिति के विकास से होता है, जो वर्तमान शताब्दी के साथ आई और 1914 के बाद स्पष्ट रूप में उभरी। पहला ब्रिटिश इतिहासकार बरी था, जिसने एक लंबे अंतराल के बाद इस प्रवृत्ति को स्वर दिया। उसने 1909 में लिखित अपने 'डार्विनिज्म इन हिस्ट्री' (इतिहास में डार्विनवाद) शीर्षक लेख में 'संयोग संघटन के तत्वों' की ओर ध्यान आकर्षित किया, जो उसके अनुसार 'सामाजिक विकास की घटनाओं को निर्धारित करने में मदद करते हैं।' 1916 में उसने इसी विषय पर एक और निबंध लिखा जिसका शीर्षक था 'क्लिओपेट्राज नोज'[19] (क्लिओपेट्रा की नाक)। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अपने उदारवादी सपनों के विनाश से उत्पन्न मोहभंग को प्रतिबिंबित करने वाले पूर्व उद्धृत उद्धरण में एच० ए० एल० फिशर अपने पाठकों से कहता है कि उन्हें इतिहास में 'असंभावित और अदृष्ट की सक्रियता को' पहचानना चाहिए।[20] इतिहास दुर्घटनाओं का एक अध्याय होता है. इस सिद्धांत की लोकप्रियता फ्रांसीसी दार्शनिकों की एक शाखा के उदय के साथ साथ बढ़ी है, जिसके अनुसार अस्तित्व 'न कोई कारण होता है, न कोई तर्क और न ही कोई आवश्यकता', यहां मैं सार्त्र के प्रसिद्ध कथन 'सत्व और नास्ति' (बीइंग ऐंड नथिंगनेस) को उद्धृत कर रहा हूं। जैसाकि हमने देखा जर्मनी में अनुभवी इतिहासकार मीनेक, अपने जीवन के अंतिम वर्षों के इतिहास में संयोग की भूमिका से प्रभावित हुआ था। इस तथ्य की ओर पर्याप्त ध्यान न देने के लिए उसने रैंक की भर्त्सना की थी। और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद गत चालीस वर्षों के राष्ट्रीय संकटों का दायित्व दुर्घटनाओं के एक सिलसिले पर डाला था। ये दुर्घटनाएं थीं : कैसर का अहंकार, वीमर गणतंत्र के अध्यक्ष पद पर हिंडेनबर्ग का चुनाव, हिटलर का सम्मोहक चरित्र इत्यादि इत्यादि। अपने देश के दुर्भाग्य के दबाव में एक महान इतिहासकार के मस्तिष्क के दिवालियापन का यह प्रत्यक्ष उदाहरण है।[21] किसी समूह या राष्ट्र में, जो ऐतिहासिक घटनाओं के शीर्ष के बजाय उसके पनाले में स्थित हों, इस तरह के सिद्धांत जो इतिहास में संयोग या दुर्घटना की भूमिका पर जोर देते हों, प्रचारित होते पाए जाते हैं। तृतीय श्रेणी के विद्यार्थियों के बीच यह दृष्टिकोण कि परीक्षाएं एक तरह की लाटरी हैं, हमेशा लोकप्रिय होगा।

परंतु इस विश्वास के स्रोत का पता लगा लेने से ही हमारा काम समाप्त नहीं हो जाता और अभी तो यह पता लगाना बाकी ही है कि क्लिओपेट्रा की नाक इतिहास के पृष्ठों पर क्या कर रही है। मांटेस्क्यू स्पष्टतः प्रथम व्यक्ति था जिसने इस घुसपैठ से इतिहास के नियमों को बचाए रखने की कोशिश की। रोमनों की महानता और उनके पतन पर उसने अपनी पुस्तक में लिखा : 'यदि एक विशेष कारण जैसे कि एक युद्ध का आकस्मिक परिणाम एक राज्य को नष्ट कर देता है तो वहां एक सामान्य कारण भी होता है जो उक्त राज्य के पतन को एकमात्र युद्ध से संभव सिद्ध करता है।' इस प्रश्न पर मार्क्सवादियों को भी दिक्कत हुई थी। मार्क्स ने इस संबंध में केवल एक बार लिखा था और वह भी एक पत्र में :

> विश्व इतिहास में अगर संयोग के लिए स्थान न होता तो इसका चरित्र बड़ा ही रहस्यवादी होता। यह संयोग अपने आप में स्वाभाविक रूप से विकास की सामान्य प्रवृत्ति का हिस्सा बन जाता है और अन्य तरह के संयोगों द्वारा प्रतिदत्त होता है। परंतु प्रगति या बाधा ऐसे 'दुर्घटनात्मकों' पर आधारित होते हैं जिनमें उन व्यक्तियों के 'संयोग' चरित्र शामिल होते हैं, जो आरंभ में एक आंदोलन का नेतृत्व करते हैं।'[22]

इस प्रकार मार्क्स ने इतिहास में संयोग के तीन उपादान स्वीकार किए। पहला, यह महत्वपूर्ण नहीं था; यह घटनाक्रम को गति दे सकता है या बाधा पहुंचा सकता है मगर उसमें कोई क्रांतिकारी बदलाव नहीं ला सकता। दूसरा, एक संयोग दूसरे द्वारा प्रतिदत्त होता है, इस प्रकार अंत में संयोग खुद को रद्द कर देता है। तीसरा, संयोग का विशेष निदर्शन व्यक्तियों के चरित्रों में होता है।[23] ट्राट्स्की ने एक नई तुलना देकर इस सिद्धांत को बल दिया है जिसके अनुसार दुर्घटनाएं किसी कमी को पूरा करती हैं और खुद को ही रद्द करती हैं : 'पूरी ऐतिहासिक प्रक्रिया दुर्घटनात्मकता के माध्यम से ऐतिहासिक नियमों का परावर्तन है। जैविकी की भाषा में कह सकते हैं कि दुर्घटनाओं के स्वाभाविक चुनाव के माध्यम से ऐतिहासिक नियमों को समझा जा सकता है।[24]

मैं स्वीकार करता हूं कि मुझे यह सिद्धांत असंतोषप्रद और अप्रामाणिक लगता है। आजकल इतिहास में दुर्घटनाओं की भूमिका को ऐसे लोग बढ़ा चढ़ा कर बताते हैं जो वस्तुतः इसके महत्व पर बल देने में रुचि रखते हैं। मगर इसका अस्तित्व है और यह कहना कि यह गति या बाधा देती है मगर परिवर्तन नहीं लाती, शब्दों की बाजीगरी है। और न ही मुझे यह विश्वास करने की कोई वजह दीखती है कि एक दुर्घटनात्मक घटना की कमी को, मसलन चौवन साल की आयु में वक्त से पहले लेनिन की मृत्यु, कोई और दुर्घटना इस तरह पूरा करती है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया का संतुलन बिगड़ने नहीं पाता।

यह दृष्टिकोण कि इतिहास में दुर्घटना हमारे अज्ञान की मापक है यानी जिसे

हम नहीं समझ पाते केवल उसे दिया गया एक नाम है, मुझे अपूर्ण लगता है।[25] इसमें संदेह नहीं कि कभी कभी ऐसा होता है। जब नक्षत्रों की नियमित गति के विषय में लोग नहीं जानते थे और मानते थे कि वे आकाश में निरुद्देश्य भाव से घूमते रहते हैं, तो उन्हें वह नाम दिया गया, जिसका अर्थ होता है, घुमक्कड़। किसी चीज को गलत संयोग मानना उसके कारण की खोज करने के परिश्रम से बच निकलने का एक सस्ता नुस्खा है और जब कभी कोई मुझसे कहता है कि इतिहास दुर्घटनाओं का एक अध्याय है तो मुझे शक होने लगता है कि वह बौद्धिक रूप से काहिल और अक्षम है। गंभीर इतिहासकारों की यह साधारण मान्यता रही है कि ऐसा कुछ जो आज तक दुर्घटनात्मक माना जाता रहा है, दरअस्ल दुर्घटना होता ही नहीं बल्कि उसकी तर्कसम्मत व्याख्या की जा सकती है और घटनाओं के व्यापक स्वरूप के साथ उसकी संगति खोजी और पाई जा सकती है। दुर्घटना सिर्फ वह नहीं है जिसे समझने में हम असफल हुए हों। इतिहास में दुर्घटना या संयोग की समस्या का समाधान धारणाओं के पूर्णतया भिन्न क्रम में खोजा जाना चाहिए, ऐसा मेरा विश्वास है।

जैसाकि हम पहले चर्चा कर चुके हैं कि इतिहास वहां से शुरू होता है जहां से इतिहासकार तथ्यों का चुनाव करके क्रम देता है, फलतः वे सामान्य तथ्य ऐतिहासिक तथ्य बन जाते हैं। सभी तथ्य ऐतिहासिक तथ्य नहीं होते। परंतु ऐतिहासिक और अनैतिहासिक तथ्यों का अंतर स्थाई और स्थिर नहीं होता और कोई भी तथ्य ऐतिहासिक तथ्य का दर्जा पा सकता है, अगर उसका संदर्भ और महत्व पा लिया जाए। अब हम देखते हैं कि कारणों के प्रति इतिहासकार के रुख में भी प्रायः इसी प्रकार की प्रक्रिया कार्यरत है। कारणों के साथ इतिहासकार का संबंध वैसा ही दुहरा और अन्योन्याश्रित है जैसा कि तथ्यों के साथ। ऐतिहासिक प्रक्रिया की उसकी व्याख्या का स्वरूप निर्धारण कारण करते हैं और उसकी व्याख्या ही कारणों के चुनाव और क्रमबद्धता का निर्धारण करती है। इतिहास में दुर्घटना की समस्या के समाधान का सूत्र हमें इसी में मिलता है। क्लिओपेट्रा की नाक की खूबसूरती, बजाजेट का गठिया रोग, बंदर का काटना जिसने राजा अलेक्जेंडर की जान ले ली और लेनिन की मृत्यु ऐसी दुर्घटनाएं थीं जिन्होंने इतिहास की दिशा बदल दी। इन्हें महत्व को कम करने या यह बहाना बनाने की कोशिश कि किसी न किसी रूप में इन दुर्घटनाओं का कोई प्रभाव नहीं था बेकार है। इसके बजाय यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि अपने दुर्घटना होने मात्र से वे इतिहास की किसी तार्किक व्याख्या में या महत्वपूर्ण कारणों की इतिहासकार की क्रमबद्ध सूची में शामिल नहीं हो सकतीं। मैं यहां प्रो० पापर और प्रो० बर्लिन को फिर उद्धृत करना चाहूंगा जो इस स्कूल के इतिहासकारों के सबसे ज्यादा लोकप्रिय और महत्वपूर्ण प्रतिनिधि हैं। इनकी मान्यता है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया में कोई महत्वपूर्ण तत्व पाने की

कोशिश और उससे निष्कर्ष निकालने की कोशिश 'समूचे अनुभव' को एक सामंजस्यपूर्ण क्रमबद्ध स्वरूप देने की कोशिश है और इतिहास में दुर्घटनाओं की उपस्थिति ऐसी किसी भी कोशिश को नाकाम कर देती है। मगर कोई भी समझदार इतिहासकार ऐसा कुछ विलक्षण करने का दम नहीं भरता जो 'समूचे अनुभव' को समाहित किए हो। वह अपने अध्ययन में इतिहास के अपने चुने हुए क्षेत्र या पक्ष से संबंधित तथ्यों के छोटे अंश से ज्यादा तो शामिल नहीं कर सकता। वैज्ञानिक की दुनिया की तरह इतिहासकार की दुनिया वास्तविक जगत की फोटो अनुकृति नहीं होती, बल्कि एक ऐसा माडेल होती है जिसके आधार पर वह अपनी दुनिया को समझने और उस पर दक्षता प्राप्त करने की कमोबेश प्रभावी ढंग से कोशिश करता है। इतिहासकार अतीत के अनुभवों का सार तत्व ग्रहण करता है; अतीत के उन अनुभवों से जिन तक उसकी पहुंच है और जो उसे तर्कपूर्ण व्याख्या और अनुसंधान के योग्य लगते हैं। इन्हीं से वह निष्कर्ष निकालता है, जो उसका निदेशन करते हैं। एक नए लोकप्रिय लेखक ने विज्ञान की उपलब्धियों की चर्चा करते हुए मानव मस्तिष्क की कार्यप्रणाली का बड़ा बिबात्मक चित्र पेश किया और बताया कि वह 'अवलोकित तथ्यों' को कूड़े की बोरी में से चुनता है, एक एक कर सामने रखता है और संबद्ध अवलोकित तथ्यों को क्रम देता है, असंबद्ध तथ्यों को किनारे फेंकता चलता है जब तक कि वह 'ज्ञान' की एक तार्किक और युक्तियुक्त रजाई सिलकर तैयार नहीं कर लेता।'[26] अनावश्यक व्यक्तिपरकता के खतरे को एक सीमा तक स्वीकार करते हुए मैं उपरोक्त वक्तव्य को इतिहास की मानसिक प्रक्रिया की तस्वीर मानने को तैयार हूं।

दार्शनिकों को, यहां तक कि कुछ इतिहासकारों को यह तरीका उलझन में डाल सकता है और आतंकित कर सकता है, मगर रोजमर्रा की जिंदगी जीने वाले आम आदमी के लिए यह पूर्णतया परिचित है। उदाहरण देकर स्पष्ट करना उचित होगा। मान लीजिए जोन्स नामक एक व्यक्ति, जिसने अपनी औकात से अधिक पी रखी है, किसी पार्टी से कार चलाता हुआ घर लौट रहा है। कार की ब्रेक काम नहीं कर रही है और एक खतरनाक मोड़ पर जहां रोशनी बेहद कम है जोन्स, बेचारे राबिंसन को जो नुक्कड़ की दुकान से सिगरेट खरीदने के लिए सड़क पार कर रहा होता है, कुचलकर मार डालता है। मान लीजिए इस मामले के रफा-दफा हो जाने के बाद हम स्थानीय पुलिसथाने में इसके कारणों की जांच करने बैठते हैं। क्या चालक का शराब के नशे में कार चलाना इस दुर्घटना का कारण था, ऐसी हालत में उसके खिलाफ कानूनी कार्रवाई होनी चाहिए? क्या इसका कारण दोषपूर्ण ब्रेक थे, वैसी हालत में उस गैरेज के मालिक की मिजाजपुरसी होनी चाहिए, जिसने सिर्फ हफ्ता भर पहले उस कार की ओवरहालिंग की थी? या कि इस दुर्घटना का असली कारण सड़क का तीखा मोड़ था, ऐसी हालत में सड़क विभाग

के अधिकारियों का ध्यान उधर आकर्षित करना उचित होगा ? मान लीजिए जब हम इन विकल्पों की संभावना पर गौर कर रहे हों, उसी बीच दो गण्यमान्य भद्रजन, मैं उनके नाम नहीं बताऊंगा, कमरे में फट पड़ते हैं और बेहद तर्कपूर्ण पद्धति और धाराप्रवाह शैली में हमें बताने लगते हैं कि अगर राबिसन की सिगरेटें उस शाम खत्म न हुई होतीं तो वह सड़क पार करता हुआ कार से कुचला जाकर न मरता; कि राबिसन की सिगरेट की तलब प्रकारांतर से उसकी मौत के लिए जिम्मेदार थी और इस कारण को नजरअंदाज करना मामले की तफतीश में बेकार वक्त गंवाना होगा और इसीलिए उससे निष्कर्ष निकालना अर्थहीन और बेकार होगा। फिर, हम क्या करें ? जितनी जल्दी हम अपने दोनों अनामंत्रित अतिथियों की वाग्धारा को रोक सकेंगे रोकेंगे और उन्हें विनम्रता मगर दृढ़ता के साथ दरवाजे के बाहर ठेल देंगे और दर्बान को आदेश दे देंगे कि उक्त सज्जनों को किसी भी हालत में अंदर जाने की इजाजत वह आगे से न दे। इसके बाद हम फिर मामले की तहकीकात में लग जाएंगे। मगर तहकीकात में विघ्न डालने वालों को हमारा क्या जवाब होगा ? यह सच है कि राबिसन की मौत इसीलिए हुई कि वह सिगरेट पीता था। इतिहास में दुर्घटना और संयोग के महत्व के भक्त जो कुछ कहते हैं, वह पूर्णतया सच और एकदम तार्किक होता है। यह उसी प्रकार का अनुपातहीन तर्क होता है जैसा हमें 'एलिस इन वंडरलैंड' और 'थ्रू दि लुकिंग ग्लास' में मिलता है। आक्सफोर्डीय प्रतिभा के इन परिपक्व फलों के प्रति प्रशंसा के भाव के बावजूद मैं उनके तर्क नहीं मान लेता, इसके बजाय मैं अपने अलग अलग 'मूड' के तर्कों को अलग अलग खानों में रखता हूं। इतिहास के 'मूड' का तर्क डाजसन के 'मूड' का तर्क नहीं हो सकता।

अतएव इतिहास (तथ्यों और कारणों के) चुनाव की वह प्रक्रिया है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण (तथ्यों और कारणों के) चुनाव में संबंध रखती है। टैलकाट पार्सन के मुहावरे को एक बार उधार लें तो कहेंगे कि इतिहास एक 'चुनने की प्रक्रिया' है, यथार्थ का न केवल बोधात्मक या अनुभवगम्य बल्कि कारणपरक निर्धारण है। जिस प्रकार इतिहासकार तथ्यों के महासमुद्र में से उन तथ्यों को चुनता है जो उसके उद्देश्य के लिए महत्वपूर्ण होते हैं, उसी प्रकार कारण और कार्य या प्रभाव की कतिपय शृंखलाओं में से वह केवल उन्हें चुनता है जिनका ऐतिहासिक महत्व होता है। और उनके ऐतिहासिक महत्व को निर्धारित करने का मापदंड होती है, उन कारणों और तथ्यों को अपनी ऐतिहासिक व्याख्या और तर्कपद्धति में समाहित करने और सही ढंग से इस्तेमाल करने की उनकी क्षमता। कारण और कार्य की अन्य शृंखलाओं की उपेक्षा करनी पड़ती है, इसलिए नहीं कि उनके कारण और कार्य में अन्योन्याश्रय संबंध नहीं होता, बल्कि इसलिए कि वह कार्य कारण शृंखला ऐतिहासिक दृष्टि से संदर्भहीन होती है। इतिहासकार के पास

उनका कोई उपयोग नहीं होता क्योंकि उनकी कोई तार्किक व्याख्या संभव नहीं होती और अतीत अथवा वर्तमान के लिए उनका कोई अर्थ नहीं होता। यह सही है कि क्लिओपेट्रा की नाक, बजाजेट का गठिया, अलैक्जेंडर को बंदर का काटना, लेनिन की मृत्यु और राबिसन की धूम्रपान इच्छा के स्पष्ट परिणाम हैं, मगर इससे यह सामान्य ऐतिहासिक नियम नहीं बनता कि महान सेनापति युद्ध इसलिए हारते हैं कि वे सुंदरियों के प्रति आसक्त हो जाते हैं या कि युद्ध इसलिए होते हैं कि राजा लोग बंदर पालते हैं, या कि लोग सड़कों या गाड़ियों के नीचे कुचलकर इसलिए मरते हैं कि उन्हें धूम्रपान की लत है। इसके विपरीत अगर आप किसी साधारण आदमी से कहें कि राबिसन इसलिए मरा कि उसे कुचलने वाली कार का चालक नशे में था, या कि कार के ब्रेक दोषपूर्ण थे या सड़क का मोड़ बेहद तीखा था और आगे कुछ भी देखना मुमकिन न था तो तमाम कारण उसे राबिसन की मौत की समझदार व्याख्या प्रतीत होंगे। अगर उसे कारणों के चुनाव का अवसर दिया जाए तो वह इनमें से एक ही तरफ इशारा करके कहेगा : यही राबिसन की मौत का 'असली' कारण था उसकी सिगरेट पीने की इच्छा नहीं। इसी तरह अगर आप इतिहास के विद्यार्थी से कहें कि 1920 के बाद के वर्षों में सोवियत देश में जो संघर्ष हुए उनका कारण था, उद्योगीकरण की प्रगति की दर पर विवाद, या शहरों के लिए भोजन जुटाने के लिए किसानों को प्रेरित करने के तरीकों पर असहमति, या बड़े नेताओं की आपसी होड़ और महत्वाकांक्षाएं, तो वह इन्हें तार्किक और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण व्याख्या मान लेगा क्योंकि ये कारण अन्य ऐतिहासिक परिस्थितियों में भी लागू किए जा सकते हैं और यह कि जो कुछ घटित हुआ उसके ये 'असली' कारण थे, जबकि लेनिन की असमय मृत्यु नहीं थी। अगर वह इन विषयों पर पढ़ने और सोचने की जहमत उठाने वाला व्यक्ति है तो उसे हीगेल की वह प्रसिद्ध उक्ति याद आएगी कि 'जो तार्किक है वही असली या यथार्थ है और जो कुछ असली या यथार्थ है वही तार्किक है।' 'फिलासाफी आफ राइट्स' के प्राक्कथन से उद्धृत यह कथन बहुत विवादास्पद रहा है और इसे लेकर काफी गलतफहमियां फैलाई गई हैं।

आइए, पल भर को हम राबिसन की मौत के कारणों पर लौटें। हमें यह पहचानने में कोई दिक्कत नहीं हुई कि कुछ कारण 'असली' और तार्किक थे और दूसरे दुर्घटनात्मक और अतार्किक। मगर इस विभाजन का हमारा मापदंड या आधार क्या था? तर्कशक्ति का प्रयोग हम साधारणतः किसी उद्देश्य के लिए करते हैं। बौद्धिक लोग कभी कभी मौज में आकर तर्क करते हैं या सोचते हैं कि वे तर्क कर रहे हैं। मगर मोटे तौर पर आदमी किसी निष्कर्ष या लक्ष्य के लिए तर्क करता है। और जब हमने कुछ व्याख्याओं को तार्किक और अन्य को अतार्किक स्वीकार किया तो उस समय हम उन व्याख्याओं का जो किसी उद्देश्य या लक्ष्य

पूर्ति कर रही थीं, दूसरी व्याख्याओं के साथ जो ऐसा नहीं कर रही थीं, अंतर कर रहे थे। इस मामले में यह कल्पना करना उचित लगता है कि कार चालकों के शराब पीने पर प्रतिबंध, ब्रेकों के सही होने की कड़ी जांच और सड़कों की स्थिति में सुधार से यातायात दुर्घटनाओं में कमी आएगी, मगर ऐसा मान लेना निहायत गैर समझदारी की बात लगती है कि अगर लोगों को सिगरेट पीने से रोक दिया जाए तो यातायात दुर्घटनाएं कम हो जाएंगी। यही वह मानदंड था जिसके आधार पर हमने दो तरह की कारण श्रृंखलाओं में से चुनाव किया और इतिहास के संबंध में भी कारणों के चुनाव का यही मानदंड होता है। वहां भी हम तार्किक कारणों और दुर्घटनात्मक कारणों में फर्क करते हैं। उन कारणों को हम तार्किक कारणों के खाने में रखेंगे जो दूसरे देशों, दूसरे युगों और दूसरी परिस्थितियों पर भी लागू किए जा सकते हैं, जिनसे हम फलप्रद सामान्यीकरण करके नियम बना सकें, उनसे सबक ले सकें और जो हमारी समझ को व्यापक और गहरा कर सकें।[27] दुर्घटनात्मक कारणों या संयोगों का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता यानी उनसे सामान्य नियम नहीं बनाए जा सकते। और चूंकि वे पूरे पूरे विशिष्ट होते हैं, अतएव न तो उनसे कोई सबक सीखा जा सकता है और न ही उनसे निष्कर्ष ही निकाले जा सकते हैं। मगर यहां मैं एक और मुद्दा उठाऊंगा। दरअस्ल उद्देश्यपरकता का यही दृष्टि-कोण इतिहास में कार्य कारण संबंध के हमारे व्यवहार की कुंजी है और निश्चय ही इसमें मूल्यों के आधार पर गुण दोष विवेचन निहित है। जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं इतिहास में व्याख्या के साथ मूल्यों के आधार पर गुणदोष विवेचन जुड़ा होता है और कार्य कारण निरूपण व्याख्या के साथ संवद्ध होता है। मैनिक के, बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में मैनिक महान के शब्दों में : 'इतिहास में कार्य कारण संबंधों की खोज मूल्यों के संदर्भ के बिना असंभव है···कारणों की खोज के पीछे, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मूल्यों की खोज जरूर होती है।'[28] इससे मुझे अपने पहले के कथन की याद आती है कि इतिहास का कार्यव्यापार दोहरा और अन्योन्याश्रयी होता है। वह वर्तमान के आलोक में अतीत के बारे में हमारी समझ को बढ़ाता है और अतीत के आलोक में वर्तमान के बारे में क्लिओपेट्रा की नाक के प्रति एंटनी की आसक्ति जैसा और कोई भी तथ्य, जो इस दोहरे उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता इतिहासकार की दृष्टि में मरा हुआ और बेकार होता है।

यहां मैं यह स्वीकार करना चाहूंगा कि मैंने आपके साथ एक भद्दी चाल की है। हालांकि आप आसनी से उसका आशय समझ गए होंगे और चूंकि इससे मुझे अपनी बात संक्षेप में कहने का सुभीता है, आपने मेहरबानी करके इसे शार्टहैंड का एक तरीका मान लिया होगा। यहां तक मैं 'अतीत और वर्तमान' के परंपरागत शब्दों का इस्तेमाल करता आया हूं, लेकिन जैसा कि हम सभी जानते हैं कि अतीत और भविष्य के बीच एक काल्पनिक विभाजन रेखा के अतिरिक्त वर्तमान का कोई

अस्तित्व नहीं होता। वर्तमान की बात करते समय हर वक्त मैंने समय का एक और आयाम उसमें चुपके से समाहित कर लिया है। मेरा ख्याल है यह दिखाना आसान होगा कि चूंकि अतीत और भविष्य एक ही समय विस्तार के दो हिस्से हैं, अतीत में रुचि लेने के साथ भविष्य में रुचि लेना जुड़ा हुआ है। जब लोग केवल वर्तमान में नहीं जीते और अपने अतीत और भविष्य में सचेत रुचि लेने लगते हैं तो हम प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक की विभाजन रेखा को पार कर लेते हैं। इतिहास परंपराओं को आगे बढ़ाते जाने में निहित है और परंपरा का अर्थ है कि अतीत के सबक और आदतें भविष्य में ले जाना। अतीत के अभिलेख हम भविष्य में आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखते हैं। डेन्मार्क का इतिहासकार हुईजिगा लिखता है कि 'ऐतिहासिक चिंतन हमेशा उद्देश्यवादी होता है।'[29] सर चार्ल्स स्नो ने पिछले दिनों रदरफोर्ड के बारे में लिखा कि 'सभी वैज्ञानिकों की तरह···उनकी हड्डियों में भविष्य समाया हुआ था, हालांकि वे कभी नहीं सोचते थे कि इसका आशय क्या है।[30] मेरा खयाल कि अच्छे इतिहासकारों की हड्डियों में भी भविष्य होता है, भले ही वे इसके बारे में सोचें या न सोचें। 'क्यों ?' पूछने के अलावा, इतिहासकार एक और प्रश्न पूछता है : 'किधर ?'

संदर्भ

1. एफ. एम. कार्नफोर्ड : 'थ्यूसीडाइडीज मिथिस्टोरिक्स', पैसिम.
2. दे ल, एस्परी, दे लुआ, भूमिका और अध्याय, 1.
3. ए. सी. पिगाउ, (संपादक) : 'मेमोरियल्स आफ अल्फ्रेड मार्शल', (1925), पृ० 428.
4. एच. प्वायंकेयर : 'ला सियोंस ए लिपोसेज', (1902), पृ० 202-3.
5. बी. रसेल : 'मिस्टिसिज्म ऍंड लाजिक', (1918), पृ० 188.
6. दि एजूकेशन आफ हेनरी एडम्स (बोस्टन, 1928), पृ० 224.
7. 'दि पावर्टी आफ हिस्टोरिसिज्म' पुस्तकाकार रूप में सर्वप्रथम 1957 में प्रकाशित हुई, लेकिन इसमें 1944-1945 में छपे निबंध संकलित हैं.
8. एक दो स्थलों को छोड़कर जहां सूक्ष्मता की आवश्यकता न थी, मैंने 'इतिहासवाद' जैसे शब्द का व्यवहार नहीं किया है क्योंकि प्रोफेसर पापर ने अपनी बहुपठित कृतियों में इस शब्द को इसके सही अर्थ से अलग कर दिया है. शब्दों की परिभाषा पर लगातार जोर देना रूढ़िवादिता है. मगर यह तो जरूरी है ही कि आदमी जो कह रहा है उसे समझे और प्रोफेसर पापर इतिहास के विषय अपनी नापसंद की हर सम्मति को 'इतिहासवाद' से जोड़ लेते हैं. इनमें वे सम्मतियां भी शामिल हैं जो आज भी मुझे ठोस लगती हैं और वे भी जिन्हें आज कोई भी गंभीर लेखक नहीं मानता. जैसा कि उन्होंने खुद भी स्वीकार किया है (दि पावर्टी आफ हिस्टोरिसिज्म, पृ० 3) कि 'इतिहासवाद' के तर्कों के वही प्रवर्तक हैं और उन तर्कों का किसी भी दूसरे ज्ञात इतिहासवादी ने प्रयोग नहीं किया है. उनकी रचनाओं में दोनों तरह के सिद्धांत 'इतिहासवाद' के अंतर्गत आते हैं, वे जो इतिहास को विज्ञान में सम्मिलित करते हैं और वे जो उन्हें विच्छिन्न करते हैं. 'दि ओपेन सोसाइटी', में हीगेल को इतिहासवाद का प्रवर्तक माना गया है जबकि हीगेल सदा भविष्यवाणी करने से बचता

था. 'दि पावर्टी आफ हिस्टोरिसिज्म' की भूमिका में इतिहासवाद की परिभाषा यों दी गई है : 'सामाजिक विज्ञान का एक दृष्टिकोण जो कल्पना करता है कि उसका प्रमुख ध्येय ऐतिहासिक भविष्यवाणी करना है.' उस समय तक जर्मन का हिस्टोरिस्मस अंगरेजी शब्द हिस्टोरिसिज्म का ही एक पर्यायवाची माना जाता था. अब प्रो. पापर ने 'इतिहासवाद' और 'ऐतिहासिकतावाद' में अंतर बताया और इस शब्द के प्रयोग से संबंधित भ्रम को और बढ़ा दिया. 'दि सस आफ हिस्ट्री : सेकुलर एंड सैक्रेड' (1959) भाग-2 में एम. सी. डी आर्सी ने 'इतिहासवाद' शब्द का प्रयोग 'इतिहास-दर्शन के समान' अर्थ में किया है.

9. 'प्रथम फासिस्ट' के रूप में प्लेटो पर पहले पहल आक्रमण आक्सफोर्ड के एक इतिहासवेत्ता आर. एच. क्रोसमन ने अपने 'प्लेटो टुडे' शीर्षक रेडियो वार्ताओं में किया था.
10. सी. किंग्सले : 'दि लिमिट्स आफ एक्जैक्ट साइंस ऐज अप्लाइड टु हिस्ट्री' (1860), पृ० 22.
11. नियतिवाद···अर्थात···यदि आंकड़े सही हैं तो जो कुछ होता है, निश्चित होता है और कुछ और नहीं हो सकता. यह मानना कि यह भिन्न तभी हो सकता था, जब आंकड़े भिन्न होते, (एस. डब्ल्यू. अलेक्जेंडर : 'एसेज प्रेजेंटेड टु अर्न्स्ट कैसिरेर', 1936, पृ० 18).
12. के. आर. पापर : 'दि ओपेन सोसाइटी' (द्वि० सं०, 1952), ii, पृ० 197.
13. 'कार्य कारण संबंध का नियम विश्व ने हमारे ऊपर लादा नहीं है', अपितु 'विश्व के अनुसार खुद को ढालने के लिए यह हमारे लिए सबसे सुविधाप्रद तरीका है.' (जे. रुएफ : फ्राम दि फिजिकल टु दि सोशल साइंसेज, बाल्टीमोर, 1929, पृ० 52). खुद प्रो. पापर ने ('दि लाजिक आफ साइंटिफिक इंक्वायरी', पृ० 248) कार्य कारण संबंध नियम को 'अत्यंत न्यायोचित प्रक्रियात्मक नियम का आध्यात्मिक अवस्थिरीकरण' (हाइपोस्टैटाइजेशन) कहा है.
14. 'डिक्लाइन ऐंड फाल आफ दि रोमन इंपायर', अध्याय 1, viv.
15. विंस्टन चर्चिल : 'दि वर्ल्ड क्राइसिस : दि आफ्टरमैथ', (1929), पृ० 386.
16. एल. ट्राट्स्की : 'माइ लाइफ' (अंगरेजी अनुवाद, 1930), पृ० 425.
17. इस मुद्दे पर बरी के तर्क जानने के लिए देखें, 'दि आइडिया आफ प्रोग्रेस' (1920), पृ० 303-4.
18. 'डिक्लाइन ऐंड फाल आफ रोमन इंपायर', अध्याय 38. मजेदार बात है कि रोमनों द्वारा पराजित होकर यूनानी 'ऐसा हुआ होता' वाले ऐतिहासिक खेल में लग गए, जो कि विजित का मनपसंद आश्वासन है. अगर सिकंदर महान कम आयु में न मरता, उन्होंने खुद से कहा, तो 'उसने पूरे पश्चिम और रोम को जीत लिया होता और रोम यूनानी राजाओं के अधीन हो जाती.' (के. वोन फ्रिट्ज, दि थियरी आफ 'दि मिक्स्ड कांस्टीट्यूशन इन ऐंटिक्विटी', न्यूयार्क, 1954, पृ० 395).
19. दोनों निबंध जे. बी. बरी : सेलेक्टेड एसेज (1830) में पुनर्मुद्रित हैं. बरी के दृष्टिकोण पर कालिंगवुड के विचारों के लिए देखिए : 'दि आइडिया आफ हिस्ट्री', पृ० 148-50.
20. इस उद्धरण के लिए देखिए इस पुस्तक का पृ० 42. फिशर के सिद्धांत वाक्य का ट्वायनबी द्वारा 'ए स्टडी आफ हिस्ट्री' v, पृ० 414 पर जो उद्धरण दिया गया है, उससे पूर्ण मिथ्या-बोध प्रगट होता है. इस मिथ्याबोध को वह 'संयोग की सर्वशक्तिमत्ता के प्रति आधुनिक पाश्चात्य विश्वास' का उत्पाद मानता है और यह भी कि इसी से अहस्तक्षेपनीति का जन्म हुआ है. अहस्तक्षेपनीति के सिद्धांतवादी संयोग में विश्वास नहीं रखते थे, बल्कि उस छिपे

हुए हाथ में विश्वास रखते हैं, जिसने मानवीय व्यवहार की विविधता पर एक कल्याणकारी नियमितता आरोपित की थी, और फिशर का मंतव्य अहस्तक्षेप की उदार नीति का नहीं, बल्कि 1920 और 1930 के दशक में इस नीति की असफलता में से उत्पन्न हुआ था.

21. इससे संबंधित अंशों को डब्ल्यू स्टार्क ने एफ. मानेक : मैकियावेलिज्म, पृ० xxxvi-xxxvii पर अपनी भूमिका में उद्धृत किया है.
22 मार्क्स और एंगेल्स : 'वर्क्स' (रूसी संस्करण), xxvi, पृ० 108.
23. तोल्सतोय ने 'युद्ध और शांति' के उपसंहार, एक में 'संयोग' और 'जीनियस' (असामान्य प्रतिभा) जैसे शब्दों को मूलभूत कारणों को न समझ पाने की मानवीय अक्षमता का प्रतीक माना है.
24. एल. ट्राट्स्की : 'माइ लाइफ' (1930), पृ० 422.
25. तोल्सतोय का विचार था कि 'हम असंगत घटनाओं अर्थात ऐसी घटनाओं की, जिनकी संगति हमारी समझ में नहीं आती, व्याख्या के लिए भाग्यवाद का सहारा लेने को बाध्य हो जाते हैं ('वार ऐंड पीस', भाग ix, अध्याय i), पृ० 95, नोट 3 में उद्धृत अंश भी देखें.
26. एल. पाल : 'दि एनिहिलेशन आफ मैन' (1944), पृ० 147.
27. प्रो. पापर एक क्षण के लिए इस बिंदु पर अटकते जरूर हैं, मगर इसे देख नहीं पाते. यह स्वीकार करके कि 'व्याख्याओं की संख्या अनेक हो सकती हैं; ऐसी व्याख्याएं, जो सांकेतिकता और निरंकुशता में सभी समान स्तर कां होती हैं' (इन दो विशेषणों से उनका ठीक ठीक क्या मंतव्य, कहना कठिन है), वे आगे प्रासंगिक रूप से कहते हैं : 'उनमें से कुछ अपनी उर्वरता के लिए विशिष्ट मानी जा सकती हैं जो एक सीमा तक महत्वपूर्ण मुद्दा है.' ('दि पावर्टी आफ हिस्टोरिसिज्म', पृ० 151), यह केवल एक सीमा तक महत्वपूर्ण मुद्दा नहीं है, बल्कि यही वह मुद्दा है जो सिद्ध करता है कि 'इतिहासवाद' (सीमित अर्थ में) उतना दरिद्र नहीं है.
28. काजेलिटेटेन उण्ड वर्टे इन डेर गेस्चिस्टे (1928), एफ. स्टर्न कृत 'वेराइटीज आफ हिस्ट्री' (1957) में पृ० 268, 273 पर अनूदित
29. जे. हुइजिगा, एफ. स्टर्न द्वारा 'वेराइटीज आफ हिस्ट्री', (1957) में अनूदित, पृ० 293.
30. जान रेमंड (सं०) : 'दि बाल्डविन ऐज', (1960), पृ० 246.

5

इतिहास प्रगति के रूप में

आरंभ में ही मैं आज से तीन वर्ष पूर्व आक्सफोर्ड में आधुनिक इतिहास के रेगिअस प्रोफेसर, प्रो० पोबिक के उद्‌घाटन भाषण से एक उद्धरण देना चाहूंगा : 'इतिहास की व्याख्या की हमारी उत्कंठा इतनी गहरी है कि यदि हम अतीत पार रचनात्मक दृष्टि न रखें, तो या तो रहस्यवाद की ओर खिंच जाते हैं या वैराग्यवाद की ओर।'[1]

मेरा ख्याल है 'रहस्यवाद' इस दृष्टिकोण का समर्थन करेगा कि इतिहास का अर्थ इतिहास के बाहर कहीं परलोकशास्त्र या धर्मशास्त्र में है, जो वस्तुत: वर्द्याएव या नीवुन्ह ट्वायन्बी जैसे इतिहासकारों का दृष्टिकोण है।'[2] 'वैराग्यवाद' इस दृष्टिकोण का समर्थन करता है कि इतिहास का कोई अर्थ नहीं होता या अनेक ऐसे अर्थ होते हैं जो समान रूप से मान्य या अमान्य होते हैं या उसका वही अर्थ होता है जो हम स्वेच्छा से उसे देते हैं और जिसके उदाहरण मैं पहले कई बार दे चुका हूं। यह आज के दो अत्यंत लोकप्रिय ऐतिहासिक दृष्टिकोण हैं। मगर मैं बिना किसी हिचक के इन दोनों को अस्वीकार करता हूं। अब हमारे पास केवल 'अतीत पार रचनात्मक दृष्टि' वाला अजीब मगर सांकेतिक मुहावरा बच रहता है। प्रो० पोबिक ने जब इस मुहावरे का प्रयोग किया तब उनके दिमाग में क्या था, यह जानने का कोई उपाय नहीं है, इसलिए मैं इसकी अपनी व्याख्या प्रस्तुत करने की कोशिश करूंगा।

एशिया की प्राचीन सभ्यता के समान ही यूनान और रोम की प्राचीन (क्लासिकी) सभ्यताएं मूलत: अनैतिहासिक थीं। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं इतिहास के जन्मदाता हेरोडोटस की बहुत कम संतानें हुईं और कुल मिलाकर प्राचीन सभ्यता के लेखक भविष्य और अतीत दोनों के प्रति समान भाव से निरासक्त थे। थ्यूसिडाइडीज का विश्वास था कि जिन घटनाओं का उसने वर्णन किया था उनके पहले कुछ महत्वपूर्ण घटित नहीं हुआ था और न बाद में ही होने की संभावना थी। लूक्रेटिअस ने अतीत के प्रति अपनी निरासक्ति से भविष्य के प्रति मानव जाति की निरासक्ति का सिद्धांत निकाला : 'सोचो, किस तरह हमारे जन्म से पूर्व के अनंत समय से हमारा कोई वास्ता न था। यह एक आइना है जिसमें प्रकृति हमारी मृत्यु के बाद के भविष्य का प्रतिबिंब हमें दिखा रही है।'[3]

सुंदर भविष्य का कवित्वमय दिवास्वप्न अतीत के स्वर्णयुग में रूपांतरित हो गया, यह एव मानवद्वेषी दृष्टिकोण है जो इतिहास की प्रक्रिया को प्रकृति की

प्रक्रिया में समाहित कर लेता है। इतिहास कहीं जा नहीं रहा था : चूंकि उसमें अतीत का भाव नहीं था, इसलिए उसमें भविष्य का भी भाव नहीं था। केवल वर्जील 'एनीड' में इस मानवद्वेषी धारणा से ऊपर उठ पाया, वही वर्जील जिसने अपनी चौथे 'एकलाग' (संवाद काव्य) में स्वर्णयुग की ओर लौटने का क्लासिकी वर्णन किया है। 'इंपेरियम सिने फिने देदी' एक अत्यंत क्लासिक विरोधी विचार था, जिसके आधार पर परवर्ती काल में वर्जील को अर्द्धईसाई मसीहा माना गया।

यहूदियों ने, और उनके बाद ईसाइयों ने एक नया दृष्टिकोण सामने रखा जो इतिहास का उद्देश्यवादी दृष्टिकोण था और जिसके अनुसार ऐतिहासिक प्रक्रिया एक लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रही है। इतिहास को उसका अर्थ और उद्देश्य मिल गए, मगर उसके लिए अपना धर्मनिरपेक्ष चरित्र खोना पड़ा। इतिहास के अपने लक्ष्य तक पहुंच जाने का स्वतः अर्थ है इतिहास का अंत। इतिहास खुद एक ईश्वर न्यायवाद हो गया। यह इतिहास का मध्यकालीन दृष्टिकोण था। पुनर्जागरण ने मनुष्य केंद्रित विश्व और तर्क की प्रमुखता के क्लासिकी दृष्टिकोण को पुनः प्रतिष्ठित किया, मगर भविष्य के निराशावादी क्लासिकी दृष्टिकोण के बदले यहूदी ईसाई परंपराओं से प्राप्त आशावादी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा की। समय जो एक समय रुष्ट और क्षयिष्णु था, अब मित्रवत और सर्जनात्मक हो उठा। होरेस के डोमनोसा क्वेड नों इम्मिन्युइट डिएस' की वेकन के 'वेरिटस टेंपोरिस फीलिआ' से तुलना कीजिए। सचेतनवादी तार्किकों ने, जो आधुनिक इतिहास लेखन के जन्मदाता हैं, यहूदी ईसाई उद्देश्यवाद को तो ज्यों का त्यों ले लिया मगर लक्ष्य को धर्मनिरपेक्ष माना; इस प्रकार ऐतिहासिक प्रक्रिया के तार्किक चरित्र को फिर से स्थापित करने में सफल हुए। पृथ्वी पर मानव स्थिति की पूर्णता के लक्ष्य की ओर प्रगति करना इतिहास माना गया। सचेतनतावादी इतिहासकारों में महानतम गिबन को उसके विषय की प्रकृति भी यह कहने से नहीं रोक सकी कि यह 'एक सुखद निष्कर्ष है कि विश्व के प्रत्येक गुण ने मानव जाति के वास्तविक ऐश्वर्य, प्रसन्नता, ज्ञान और शायद गुणों को भी बढ़ाया है और अभी भी बढ़ा रहे हैं।'[4] जब ब्रिटिश समृद्धि, शक्ति और आत्मविश्वास अपने उच्चतम शिखर पर थे, उन्हीं दिनों प्रगति संप्रदाय अपने चरम पर पहुंचा था और ब्रिटिश लेखक तथा ब्रिटिश इतिहासकार इस संप्रदाय के सबसे प्रमुख मतदाता थे। यह बात इतनी परिचित है कि इसका निदर्शन करना बेकार है। मैं केवल एक दो उद्धरण देकर यह दिखा दूंगा कि पिछले दिनों किस प्रकार प्रगति के प्रति आस्था हमारे समूचे चिंतक का आधार रही है। कैंब्रिज माडर्न हिस्ट्री की आयोजना पर 1896 की अपनी रिपोर्ट में एक्टन ने इतिहास को एक 'प्रगतिशील विज्ञान' कहा था, (इसे मैं अपने प्रथम भाषण में उद्धृत कर चुका हूं) और उसके

प्रथम खंड के प्राक्कथन में लिखा : 'मानव व्यापार में प्रगति की वैज्ञानिक कल्पना को, जिसके आधार पर इतिहास लिखा जाए, आधार रूप में हमें स्वीकार करना पड़ेगा।' 1900 में प्रकाशित इस इतिहास के अंतिम खंड में डैंपियर ने, जो हमारे स्नातक कक्षा में अध्ययन के दिनों हमारे कालेज में ट्यूटर था, महसूस किया कि 'आगामी युग इस बात के साक्षी होंगे कि प्राकृतिक संसाधनों पर मानवीय प्रभुत्व की कोई सीमा नहीं हो सकती और न ही उन संसाधनों को मानवीय कल्याण में नियोजित करने की उसकी क्षमता पर ही।'[5] मैं जो कुछ कहने जा रहा हूं उसके परिप्रेक्ष्य में मेरे लिए यह स्वीकार लेना उचित होगा कि यही वह वातावरण है, जिसमें मेरी शिक्षा हुई थी और मैं आधी पीढ़ी पहले के बर्ट्रेंड रसेल के विचारों को बिना किसी हिचक के स्वीकार कर सकता हूं कि : 'मैं विक्टोरियाकालीन आशावादिता के पूरी बाढ़ के समय पैदा हुआ, और···उपरोक्त काल में आसान आशावादिता का एक अंश मुझमें अभी भी शेष है।'[6]

1920 में जब बरी ने अपनी पुस्तक 'दि आइडिया आफ प्रोग्रेस' लिखी, उन दिनों एक खुश्क आबोहवा फैली हुई थी जिसका दायित्व उसने 'उन उपदेशकों पर, जिन्होंने रूस में आतंक का साम्राज्य फैला रखा था', डाल दिया। यह उस समय की विचारधारा के अनुकूल विचार था; हालांकि उसने प्रगति को 'पश्चिमी सभ्यता की जीवनदाई और नियंत्रक धारणा' माना था।[7] इसके बाद यह स्वर शांत हो गया। कहा जाता है कि रूस के शासक निकोलस प्रथम ने आदेश निकाल कर 'प्रगति' शब्द पर प्रतिबंध लगा दिया था; आजकल पश्चिमी यूरोप के यहां तक कि संयुक्त राज्य अमरीका के भी दार्शनिक और इतिहासकार उसका समर्थन करते दीख पड़ते हैं। प्रगति की कल्पना का विरोध किया जा रहा है। पश्चिम का पतन इतना परिचित वाक्य हो गया है कि उसके लिए उद्धरण चिह्न की जरूरत नहीं है। लेकिन ढेर सारी चीख पुकार के बावजूद वस्तुत: हुआ क्या है ? किनके द्वारा यह नई विचारधारा अस्तित्व में आई ? पिछले दिनों मुझे बर्ट्रेंड रसेल का एक ऐसा कथन देखने को मिला जिसने मुझे चौंका दिया क्योंकि यह उनका अकेला वक्तव्य है, जिसमें गहरी वर्ग भावना विद्यमान है। उनका कथन था कि 'कुल मिलाकर आज दुनिया में सौ वर्ष पहले की तुलना में बहुत कम स्वतंत्रता है।'[8] मेरे पास स्वतंत्रता को मापने का कोई पैमाना नहीं है और मैं नहीं जानता कि बहुमत की बढ़ी हुई स्वतंत्रता के साथ अल्पमत की कम हुई स्वतंत्रता का संतुलन कैसे बनाएं ? मगर किसी भी मानदंड का प्रयोग करें, मुझे यह वक्तव्य बहुत बड़ा झूठ लगता है। मैं ए० जे० पी० टेलर के उस आकर्षक वक्तव्य की ओर ज्यादा आकर्षित हूं, जिसकी झलक हमें कभी कभी आक्सफोर्ड की शैक्षिक जिंदगी में देखने को मिलती है। वे लिखते हैं कि सभ्यता के पतन के चर्चाओं का 'अर्थ सिर्फ यह है कि पहले विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों के घर नौकर होते थे और अब उन्हें अपने

हाथों से कपड़े धोने पड़ते हैं।'[9] निश्चय ही भूतपूर्व नौकरों के लिए प्रोफेसरों द्वारा धुलाई करना प्रगति का प्रतीक हो सकता है। अफ्रीका में गोरे लोगों की प्रभुता की समाप्ति, जो साम्राज्य के स्वामिभक्तों की चिंता का कारण है और अफ्रीकन गणतंत्रवादियों और सोने तथा तांबे की खानों में पैसा लगाने वाले धनकुबेरों के लिए परेशानी का बायस है, कुछ लोगों को प्रगति जैसी कुछ लग सकती है। मुझे इसका कोई कारण समझ नहीं आता कि क्यों हम प्रगति के इस प्रश्न पर 1950 के दशक को 1890 के दशक के मुकाबले में तरजीह दें, क्यों हम रूस, एशिया और अफ्रीका के फैसले पर अंगरेजीभाषी देशों का फैसला लादें या मध्यवर्ग के बुद्धिजीवी की राय को उस साधारण गरीब की राय के मुकाबले प्राथमिकता दें, जो मैकमिलन महाशय के अनुसार पहले कभी इतने मजे में नहीं था। आइए, थोड़ी देर के लिए हम इस प्रश्न का निर्णय स्थगित कर दें कि हम प्रगति के युग में जी रहे हैं या पतन के युग में और गहराई में जाकर देखें कि प्रगति की धारणा का आशय क्या है, इसके पीछे कौन सी कल्पना निहित है और ये किस सीमा तक अमान्य है ?

सबसे पहले मैं प्रगति और विकास के भ्रम को स्पष्ट करना चाहूंगा। सचेतनतावादी विचारकों ने स्पष्टतः दो असंगत दृष्टिकोण अपनाए। उन्होंने प्रकृति की दुनिया में मानव का स्थान प्रतिपादित करने की चेष्टा की और प्राकृतिक नियमों के साथ ऐतिहासिक नियमों का समीकरण बनाया। दूसरी तरफ वे प्रगति में विश्वास रखते थे। मगर प्रकृति को प्रगतिशील और एक विशेष लक्ष्य की ओर बढ़ती हुई दिखाने का आधार क्या था ? हीगेल ने इस मुश्किल को आसान करने के लिए इतिहास और प्रकृति में स्पष्ट विभाजन किया। उसके अनुसार इतिहास प्रगतिशील था और प्रकृति प्रगतिशील नही थी। डार्विन के क्रांतिकारी विचारों ने विकास और प्रगति का समीकरण बनाकर सारी परेशानी खत्म कर दी और अंततः इतिहास की तरह प्रकृति भी प्रगतिशील प्रमाणित की गई। मगर इससे गलतफहमी और गहरी हुई और जैविक वंशागति, जो विकास का स्रोत है, के साथ सामाजिक दाय, जो इतिहास में प्रगति का स्रोत है, की तुलना की गई। यह अंतर ज्ञात और स्पष्ट है। एक यूरोपीय बच्चे को एक चीनी परिवार में रख दीजिए। बच्चा गोरी चमड़ी के साथ बड़ा होगा, मगर चीनी भाषा बोलेगा। चमड़ी की रंगत वंशपरंपरा से प्राप्त जैविक दाय है, जबकि भाषा मानव मस्तिष्क द्वारा संप्रेषित एक सामाजिक संप्राप्ति है। वंशपरंपरा द्वारा जो विकास होता है उसके चिह्न करोड़ों सालों में स्पष्ट होते हैं; जब से लिखित इतिहास प्राप्त होता है तब से मानव जाति में ऐसा कोई जैविक परिवर्तन नहीं आया है, जिसकी गणना की जाए। सामाजिक संप्राप्ति द्वारा जो प्रगति होती है उसको एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में लक्ष्य किया जा सकता है। तार्किक प्राणी के रूप में मनुष्य की विशेषता

का सार यह है कि वह विगत पीढ़ियों के अनुभवों को एकत्र करके अपनी क्षमताओं को विकसित करता है। आधुनिक मनुष्य के पास 5,000 वर्ष के उसके पूर्वजों की अपेक्षा न तो बड़ा मस्तिष्क है और न ही विचार करने की बड़ी नैसर्गिक क्षमता ही है। परंतु आज उसकी विचार शक्ति कई गुना अधिक प्रभावी हो गई है क्योंकि उसने मध्यवर्ती पीढ़ियों के अनुभवों से शिक्षा ग्रहण की है और उन्हें अपने अनुभव क्षेत्र में शामिल कर लिया है। प्राप्त की गई विशेषताओं का संप्रेषण ही, जिसे जीव विज्ञानी अस्वीकार करते हैं, सामाजिक प्रगति की आधारशिला है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त दक्षताओं के संप्रेषण द्वारा प्रगति ही इतिहास है।

दूसरा मुद्दा यह है कि हमें न तो यह कल्पना करनी चाहिए और न ही उसकी जरूरत है कि प्रगति का एक निश्चित आरंभ या अंत होता है। पचास साल से कम हुए जब यह विश्वास किया जाता था कि सभ्यता का आविष्कार नील नदी की घाटी में 4,000 ईसा पूर्व हुआ था। आज यह उतना ही विश्वसनीय रह गया जितना वह कालक्रम विज्ञान जिसके अनुसार विश्व की रचना 4,004 ई० पू० में हुई थी। निश्चय ही सभ्यता जिसके जन्म को हम प्रगति की कल्पना का आरंभ बिंदु मान सकते हैं, एक आविष्कार नहीं थी, बल्कि विकास की एक अनिश्चित धीमी प्रक्रिया है, जिसमें बीच बीच में अद्भुत वेग रहा है। प्रगति या सभ्यता-कब आरंभ हुई इस प्रश्न को लेकर हमें परेशान होने की जरूरत नहीं है। प्रगति के निश्चित अंत की कल्पना बेहद गंभीर भ्रमों की सृष्टि की है। प्रशा के राजतंत्र में प्रगति का अंत देखने के लिए हीगेल की भर्त्सना की गई जो उचित ही था। निश्चय ही यह भविष्यवाणी असंभाव्यता के उसके दृष्टिकोण की खींचतान करके गढ़ी गई व्याख्या का फल है। परंतु हीगेल के अतिभ्रम को विक्टोरियाकालीन प्रसिद्ध इतिहासकार रग्बी के आर्नल्ड ने और बढ़ाया जिन्होंने 1841 में आक्सफोर्ड में इतिहास के रेगिअस प्रोफेसर के उद्घाटन भाषण में विचार व्यक्त किए कि मानव इतिहास का आधुनिक काल मानवता के इतिहास का अंतिम चरण है। उसके अनुसार : 'यह समय की संपूर्णता के चिह्न धारण किए हुए है जैसे इसके बाद कोई आगामी इतिहास होगा ही नहीं।'[10] मार्क्स की यह भविष्यवाणी कि सर्वहारा क्रांति से वर्गविहीन समाज का अंतिम लक्ष्य प्राप्त किया जा सकेगा, नैतिक तथा तार्किक स्तर पर कहीं अधिक स्वीकार्य है। परंतु इतिहास के अंत की कल्पना में एक परलोकशास्त्रीय ध्वनि है जो इतिहास की अपेक्षा धर्मशास्त्र के अधिक निकट है और इतिहास के बाहर इतिहास के लक्ष्य की धारणा की पुष्टि करती है। निश्चय ही इतिहास का एक निश्चित अंत मानव मस्तिष्क के लिए आकर्षक लगता है और स्वतंत्रता की दिशा में अनवरत प्रगति की ऐक्टन की कल्पना अस्पष्ट और भयावह लगती है। यदि इतिहासकार प्रगति की अपनी अव-धारणा को सुरक्षित रखना चाहता है तो उसे प्रगति को एक प्रक्रिया मानना होगा

जिसमें विभिन्न युगों की मांगें और स्थितियां अपना विशिष्ट योगदान करेंगी। और यही ऐक्टन का आशय होता है जब वह कहता है कि इतिहास प्रगति का आलेख नहीं है बल्कि एक 'प्रगतिशील विज्ञान' है या आप चाहें तो इसे यों कह सकते हैं कि इतिहास, घटनाओं की श्रृंखला और उन घटनाओं के आलेख, इन दोनों ही रूपों में प्रगतिशील है। आइए देखें इतिहास में स्वतंत्रता के विकास के बारे में ऐक्टन का क्या कथन है :

> पिछले चार सौ वर्षों के तीव्र परिवर्तन और धीमी प्रगति की कालावधि में अनवरत आतंक और अन्याय के खिलाफ दलितों और निर्बल वर्गों, जिन्हें उस स्थिति में अन्य वर्गों द्वारा पहुंचा दिया गया था, के संयुक्त संघर्षों में ही स्वाधीनता सुरक्षित, सबल और परिवर्द्धित हुई और अंततः उसकी सही समझ विकसित हुई है।[11]

ऐक्टन के अनुसार घटनाक्रम के रूप में स्वाधीनता की दिशा में प्रगति करना और उक्त घटनाओं के आलेख के रूप में स्वाधीनता की समझ की दिशा में प्रगति करना इतिहास है। ये दोनों प्रक्रियाएं साथ साथ चलती हैं।[12] ऐसे युग में जब विकासवाद से समानता दिखाना एक फैशन था, दार्शनिक ब्रैडले ने लिखा : 'धर्मिक विश्वास के लिए विकास के चरम को इस रूप में दिखाया जाता है··· जो कि पहले से ही विकसित हो चुका है।'[13] इतिहासकार के लिए विकास का चरम पहले से विकसित नहीं हो सकता। यह अब भी भविष्य के सुदूर गर्भ में है और ज्यों ज्यों हम प्रगति करते हैं उसके चिह्न प्रकट होते हैं। इससे उसका महत्व कम नहीं होता। मार्गदर्शक के रूप में कंपास मूल्यवान और अनिवार्य है, मगर कंपास को हम मार्ग का मानचित्र नहीं मान सकते। इतिहास की अंतर्वस्तु को हम अपने अनुभवों के माध्यम से ही प्राप्त कर सकते हैं।

मेरा तीसरा मुद्दा यह है कि किसी भी समझदार आदमी ने यह विश्वास कभी नहीं किया कि बिना पीछे हटे, पथभ्रष्ट हुए और टूटे हुए प्रगति अनवरत रूप से एक सीधी अटूट रेखा में आगे बढ़ती गई है और किसी भी समझदार आदमी को इसमें इतनी अंधश्रद्धा नहीं हुई कि तीखी से तीखी प्रतिक्रिया भी उसे हिला न पाई हो। प्रगति की प्रक्रिया में साफ साफ देखा जाता है कि कुछ काल प्रगति के होते हैं तो कुछ प्रतिक्रिया और पश्चाद्गति के। इसके अतिरिक्त यह मानना भी गलत होगा कि एक बार पीछे हटने के बाद उसी बिंदु या उसी मार्ग पर प्रगति फिर से आरंभ की जा सकेगी। हीगेल या मार्क्स की चार या तीन सभ्यताएं ट्वायन्बी की इक्कीस सभ्यताएं, एक जीवन का सिद्धांत यानि सभ्यताओं के जन्म, पतन और ध्वंस की चक्रीय प्रक्रिया का सिद्धांत, इस तरह की तमाम योजनाएं बेमतलब हैं। मगर इनसे यह तथ्य प्रदर्शन लक्षित होता है कि सभ्यता को गतिशील करनेवाली शक्ति एक स्थान पर समाप्त होकर बाद में दूसरे स्थान

पर फिर सक्रिय हो उठती है, अतएव हम इतिहास में जो भी प्रगति लक्ष्य करते हैं वह समय या स्थान की दृष्टि से अनवरत नहीं है। सचमुच अगर मुझे ऐतिहासिक नियम गढ़ने का नशा होता तो मेरे बनाए हुए ऐतिहासिक नियमों में से एक यह होता है कि कोई दल, चाहे इसे एक वर्ग कहिए या एक राष्ट्र या एक महाद्वीप या एक सभ्यता, जो एक युग में सभ्यता की प्रगति में शीर्ष भूमिका निभाता है, उसके लिए दूसरे युग में वैसी ही भूमिका निभाना संभव नहीं होता और इसका अच्छा-खासा कारण है कि वह पूर्ववर्ती युग की परंपराओं, स्वार्थों, और सिद्धांतों से इतना आबद्ध होता है कि परवर्ती युग की मांगों और स्थितियों के अनुरूप ढल पाना उसके लिए संभव नहीं हो पाता।[14] इस प्रकार ऐसा भी बेशक हो सकता है कि जो काल एक दल के लिए पतन का काल होगा वही किसी दूसरे दल के लिए एक नई प्रगति का जन्म काल होगा। प्रगति हरेक व्यक्ति या दल के लिए समान और साथ साथ नहीं होती, न हो ही सकती है। यह महत्वपूर्ण बात है कि हमारे परवर्ती पतन सिद्धांत के मसीहा हमारे संशयवादी मित्र जिन्हें इतिहास का अर्थ दिखाई नहीं देता और जो मान लेते हैं कि प्रगति मर चुकी है, समाज के उस वर्ग और विश्व के उस भाग से हैं जिसने गत कई पीढ़ियों से सभ्यता के विकास में प्रमुख भूमिका निभाई है और बड़ा योगदान किया है। अगर उनसे कहा जाए कि अतीत में वे जो भूमिका निभा रहे थे, वह अब दूसरों के हाथ में जाने वाली है तो इससे उन्हें कोई संतोष नहीं होगा। जाहिर है कि जिस इतिहास ने उनके साथ ऐसा अनाकांक्षित छल किया है, अर्थपूर्ण और तार्किक प्रक्रिया वाला हो ही नहीं सकता। परंतु हम अगर प्रगति की परिकल्पना को जीवित रखना चाहते हैं तो मैं समझता हूं, निश्चय ही प्रगति की सरल रेखा के टूटने के सिद्धांत को मानना होगा।

अंत में मैं इस प्रश्न पर आता हूं कि ऐतिहासिक गतिविधि या कार्य के अर्थ में प्रगति की आवश्यक अंतर्वस्तु क्या है? जो लोग नागरिक अधिकारों, सार्व-जनीनता या दंड संहिताओं के दोषों या रंगभेद या आर्थिक असमानता के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं वे केवल उन्हीं स्पष्ट उद्देश्यों के लिए संघर्षरत हैं; वे सचेत रूप से 'प्रगति' की आकांक्षा से या किसी ऐतिहासिक 'नियम' को प्रमाणित करने के लिए या किसी 'अवधारणा' या 'प्रगति' के लिए ऐसा नहीं कर रहे हैं। यह तो इतिहासकार है जो उनके कार्यों और संघर्षों पर अपनी 'प्रगति' की अवधारणा को लागू करता है और उनके कार्यों को प्रगति की संज्ञा देता है। मगर इससे प्रगति की धारणा अमान्य नहीं हो जाती। मैं इस मुद्दे में सर बर्लिन के साथ खुशी से सहमत होना चाहूंगा कि : 'प्रगति और प्रतिक्रिया, चाहे इनका जितना भी दुरु-पयोग किया गया हो अर्थहीन अवधारणाएं नहीं हैं।'[15] इतिहास की यह एक पूर्व-धारणा है कि मानव जाति अपने पूर्ववर्तियों के अनुभवों से लाभ उठा सकती है

(जरूरी नहीं है कि उसे लाभ होता ही हो।) और प्रकृति में विकास के विपरीत, इतिहास में यह प्रगति संप्राप्त गुणों और संपदाओं के संप्रेषण पर निर्भर करती है। इस संपदा में भौतिक ऐश्वर्य और अपने परिवेश पर स्वामित्व स्थापित करने और उसे रूपांतरित करके उपयोग में लाने की क्षमता, दोनों शामिल हैं। वस्तुतः ये दोनों ही पक्ष अन्योन्याश्रित हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। मार्क्स इस पूरी इमारत का आधार मानव श्रम को मानता है और अगर 'श्रम' को पर्याप्त विस्तृत अर्थों में लिया जाए तो यह फार्मूला स्वीकार्य लगता है। परंतु संसाधनों के एकत्रीकरण से ही काम नहीं चलेगा जब तक उसके साथ इसमें न केवल बढ़े हुए तकनीकी और सामाजिक ज्ञान को बल्कि अपने परिवेश पर मनुष्य के श्रेष्ठ-तर स्वामित्व को भी व्यापक अर्थों में शामिल नहीं किया जाता। मैं समझता हूं आज कल कम ही लोग होंगे जो नैतिक संसाधनों और वैज्ञानिक जानकारी के एकत्री-करण, तकनीकी अर्थ में परिवेश पर स्वामित्व की दिशा में प्रगति के तथ्य से इनकार करें। दरअस्ल जिन मुद्दों पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाए जाते हैं वे ये हैं: क्या हमने समाज को व्यवस्थित करने की दिशा में प्रगति की है? क्या हमने अपने सामाजिक परिवेश (राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय) पर स्वामित्व स्थापित करने की दिशा में प्रगति की है? क्या हम स्पष्टतः पीछे नहीं गए हैं? क्या सामाजिक प्राणी के रूप में मानव का विकास तकनीकी विकास के मुकाबले बुरी तरह पिछड़ नहीं गया है?

जिन लक्षणों से ये या इस तरह के प्रश्न उभरते हैं वे बेहद स्पष्ट है। परंतु मुझे पूरा शक है कि ये सवाल गलत ढंग से पूछे जाते हैं। इतिहास ने कई नए मोड़ देखे हैं, जब नेतृत्व और पहल करने का सुयोग एक दल के हाथ से निकलकर दूसरे और विश्व के एक भाग से दूसरे भाग के हाथों में चला गया है। आधुनिक राज्यों की शक्ति का उदय, शक्ति के केंद्र का भूमध्य से हटकर पश्चिमी यूरोप में चला जाना और फ्रांसीसी क्रांतिकाल बहुपरिचित आधुनिक उदाहरण हैं। ये काल हमेशा तीव्र हलचल और शक्ति संघर्ष के काल होते हैं। पुरानी सत्ताएं कमजोर पड़ जाती हैं, पुराने आदर्श गायब हो जाते हैं; महत्वाकांक्षाओं और शत्रुताओं के भीषण संघर्ष में से नई व्यवस्था जन्म लेती है। मेरा सुझाव है कि हम इस वक्त ऐसे ही एक काल से गुजर रहे हैं। मुझे यह कहना गलत लगता है कि सामाजिक संगठन की समस्या की हमारी समझ या उस समझ के आधार पर समाज को संगठित करने की हमारी सदिच्छा अवनत हुई है। दरअस्ल मैं कहना चाहूंगा कि उनमें काफी बढ़ोत्तरी हुई है। यह नहीं है कि हमारी क्षमताएं निःशेष हुई हैं या हमारे नैतिक गुण छीजे हैं। परंतु महाद्वीपों, राष्ट्रों और वर्गों के बीच शक्ति संतुलन के बदलाव से हमारी उथलपुथल और संघर्ष की अवधि ने, जिसमें से हम गुजर रहे हैं, हमारी क्षमताओं और गुणों पर बेहद दबाव डाला है और सकारात्मक

उपलब्धि की हमारी क्षमताओं और गुणों को प्रभावहीन कर दिया है। पिछले पचास वर्षों से पश्चिमी यूरोप में प्रगति हुई है, इस विश्वास को जो चुनौती मिली है मैं उसकी शक्ति को कम करके नहीं आंकना चाहता, फिर भी मैं अभी यकीन नहीं कर पाता कि इतिहास में प्रगति समाप्त हो चुकी है। परंतु आप अगर मुझसे प्रगति के परिमाण के बारे में प्रश्न करें तो मैं कुछ यों कहूंगा : इतिहास में प्रगति का सुस्पष्ट और निश्चित लक्ष्य, जिसका प्रतिपादन उन्नीसवीं सदी के दार्शनिक अक्सर करते रहे हैं, निष्फल और अव्यावहारिक सिद्ध हुआ है। प्रगति में विश्वास का अर्थ नैसर्गिक रूप से अपने आप होने वाली या अनिवार्य रूप से होने वाली प्रगति में विश्वास करना नहीं है, बल्कि मानवीय क्षमताओं के प्रगतिशील विकास में विश्वास करना है। प्रगति एक अमूर्त संज्ञा है और जिन स्थूल लक्ष्यों के लिए मानव जाति प्रयत्नशील है, वे इतिहास के दौरान ही प्राप्त होते हैं, इतिहास के बाहर नहीं। मुझे मानव जाति की भावी पूर्णता या पृथ्वी पर स्वर्ग की कल्पना में विश्वास नहीं है। अध्यात्मवादियों और रहस्यवादियों से इस सीमा तक मैं सहमत हूं कि इस पृथ्वी पर पूर्णता की प्राप्ति संभव नहीं है। मगर मैं असीमित प्रगति की संभावना से संतुष्ट हो सकता हूं, ऐसी प्रगति जिसकी कोई सीमा न हो या हम कम से कम उसकी कल्पना न कर सकें और जो ऐसे लक्ष्यों की तरफ उन्मुख हो, जिन्हें हम उनकी ओर ज्यों ज्यों अग्रसर हों, त्यों त्यों समझ सकें और जिनकी मान्यता उन्हें प्राप्त करने की प्रक्रिया द्वारा ही प्रमाणित की जा सके। और मैं यह भी नहीं जानता कि इस तरह की किसी धारणा के अभाव में मानव समाज कैसे जीवित रह सकता है। प्रत्येक सभ्य समाज अपनी वर्तमान पीढ़ी पर आने वाली पीढ़ी के निमित्त त्याग और बलिदान करने का दायित्व आरोपित करता है। भविष्य में आनेवाली बेहतर दुनिया के लिए इन त्यागों और बलिदानों को युक्तियुक्त मानना, किसी दैवी उद्देश्य के निमित्त इस तरह के त्यागों को उचित ठहराने जैसी ही एक धर्मनिरपेक्ष बात है। बरी के शब्दों में : 'भावी पीढ़ी के प्रति कर्तव्य का सिद्धांत प्रगति की धारणा का स्वाभाविक परिणाम है।'[16] संभवतः इस कर्तव्य का औचित्य प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है और अगर है, तो मुझे नहीं मालूम कि इसे और किस तरह उचित ठहराया जाए।

अब मैं इतिहास में वस्तुनिष्ठता की प्रसिद्ध पहेली को लेता हूं। यह शब्द अपने आप में भ्रमात्मक और व्याख्या करने योग्य है। पहले के अपने एक भाषण में मैं यह तर्क पेश कर चुका हूं कि सामाजिक विज्ञान में जिनमें इतिहास शामिल है, ऐसे किसी सिद्धांत को स्वीकार नहीं कर सकते जिसमें विषय और वस्तु को अलग अलग रखा गया हो और जो दृष्टा और दृश्य में तीखी विभाजन रेखा खींचता हो। हमें एक नए माडल की जरूरत है, जो उनके बीच के अंतःसंबंधों

और अंत:प्रक्रियाओं की संश्लिष्ट प्रक्रिया के साथ न्याय कर सके। इतिहास के तथ्य शुद्ध वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकते क्योंकि वे इतिहास के तथ्य तभी बनते हैं, जब इतिहासकार उनको महत्व देता है। इतिहास में वस्तुनिष्ठता, अगर हम अब भी इस परंपरागत शब्द का प्रयोग करें, तथ्यों की वस्तुनिष्ठता नहीं हो सकती, बल्कि सिर्फ संबंधों की वस्तुनिष्ठता होती है, तथ्यों और उनकी व्याख्या के बीच के संबंध, अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच के संबंध। मुझे फिर शायद उन कारणों को दुहराने की जरूरत नहीं है, जिनके आधार पर मैंने इतिहास के बाहर तथा उससे स्वतंत्र मूल्यों के स्थिर मानदंडों द्वारा ऐतिहासिक घटनाओं पर फैसले देने के प्रयासों को अनैतिहासिक कहकर अमान्य कर दिया था। परंतु पूर्ण सत्य की धारणा भी इतिहास की दुनिया के अनुकूल नहीं है या जैसा कि मुझे संदेह है विज्ञान की दुनिया के भी अनुकूल नहीं है। केवल अत्यंत सरल ऐतिहासिक वक्तव्य ही पूर्ण सत्य या पूर्ण मिथ्या की कोटि में रखे जा सकते हैं। सूक्ष्मतर स्तर पर कोई इतिहासकार जो किसी भूतपूर्व इतिहासकार के मंतव्य का खंडन करना चाहता है, उसे साधारणत: पूर्णत: मिथ्या नहीं कहता है, बल्कि उसे अपूर्ण या पक्षपात-पूर्ण या भ्रमात्मक या एक ऐसे दृष्टिकोण की उपज बताता है जो पुरानी पड़ गई है या बाद में प्राप्त सबूतों के आधार पर अप्रासंगिक सिद्ध हो चुकी है। यह कहना कि रूसी क्रांति का कारण निकोलस द्वितीय की मूर्खता या लेनिन की श्रेष्ठ प्रज्ञा (जीनियस) थी एकदम अपर्याप्त है, इतना अपर्याप्त कि इससे भ्रम ही पैदा होगा। मगर इस वक्तव्य को पूर्ण मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता। इतिहासकार इस प्रकार के वक्तव्यों को पूर्णताओं में नहीं लेता।

आइए एक बार फिर हम बेचारे राबिसन की दुखद मृत्यु पर नजर डालें। उक्त घटना की हमारी जांच की वस्तुनिष्ठता तथ्यों की प्रामाणिकता पर निर्भर नहीं थी, तथ्यों के बारे में हमें कोई संदेह था ही नहीं, बल्कि सही और महत्वपूर्ण तथ्यों, जिनमें हमारी रुचि थी तथा संयोगपरक तथ्यों, जिनकी हम अवज्ञा कर सकते थे, इन दोनों के बीच फर्क कर पाने की हमारी क्षमता पर निर्भर थी। हम उनमें फर्क करने में सफल हुए, क्योंकि हमारे मानदंड या उनके महत्व की परीक्षा करने का हमारा तरीका यानी हमारी वस्तुनिष्ठता का आधार स्पष्ट था और हमारे उद्देश्य के साथ उनकी प्रासंगिकता थी अर्थात सड़क दुर्घटनाओं को कम करने के हमारे उद्देश्य के साथ हमारे तथ्यों की प्रासंगिकता जुड़ी हुई थी। परंतु सड़क दुर्घटनाओं को कम करने के उद्देश्य से जांच करने वाले की अपेक्षा इतिहासकार कम भाग्यशाली प्राणी होता है। महत्वपूर्ण प्रासंगिक तथ्यों और संयोगपरक तथ्यों के बीच फर्क करने के लिए इतिहासकार को भी ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या करने के काम में महत्व के मानदंडों की जरूरत पड़ती है और वे ही उसकी वस्तु-निष्ठता के भी मानदंड होते हैं। वह भी अपने उद्देश्य पर नजर रखकर ही इनका

पता लगा सकता है। परंतु आवश्यक रूप से यह एक विकासात्मक लक्ष्य होता है, क्योंकि इतिहास का एक आवश्यक दायित्व है अतीत की विकासात्मक व्याख्या। यह परंपरागत अवधारणा कि परिवर्तन की व्याख्या किसी स्थिर और अपरिवर्तनीय मानदंडों के आधार पर हो सकता है, इतिहासकार के अनुभव के विपरीत है। प्रो० बटरफील्ड कहते हैं : 'इतिहासकार के लिए अपरिवर्तनीय या पूर्ण केवल परिवर्तन है।'[17] शायद प्रो० बटरफील्ड इस कथन के बहाने अपने लिए एक ऐसा क्षेत्र सुरक्षित रखना चाहते हैं, जहां इतिहासकार उनके पीछे न जाएं। इतिहास में पूर्ण अतीत में कोई चीज नहीं है, जिससे हम शुरू करते हैं; यह वर्तमान में भी कोई चीज नहीं है क्योंकि समूचा वर्तमान चिंतन आवश्यक रूप से सापेक्ष है। यह कुछ ऐसी चीज है जो अभी पूरी नहीं हुई है और होने की प्रक्रिया में है, कुछ ऐसा जो भविष्य के गर्भ में है जिसकी ओर हम बढ़ रहे हैं और जो आकार ग्रहण करने लगता है ज्यों ज्यों हम उसके निकट जाते हैं और जिसकी रोशनी में, जैसे जैसे हम आगे बढ़ते हैं, अतीत की अपनी व्याख्या को आकार देते हैं। यही धर्मनिरपेक्ष सत्य उस आध्यात्मिक मिथक के पीछे है जिसके अनुसार इतिहास का अर्थ कयामत की रात में ही स्पष्ट होगा। हमारे मानदंड उस अर्थ में अपरिवर्तनीय नहीं हैं जिन अर्थों में उन चीजों को लेंगे जो कल, आज और आगे भी हमेशा एक समान रहेंगी। ऐसी पूर्ण स्थिरता इतिहास के स्वभाव के प्रतिकूल है। लेकिन जहां तक इसका संबंध अतीत की हमारी व्याख्या से है, यह पूर्ण है। यह सापेक्षवाद को अमान्य करता है जिसके अनुसार एक व्याख्या का वही मूल्य है जितना दूसरी का या कि हर व्याख्या अपने समय और स्थान के संदर्भ में सही है। इस प्रकार यह हमें वह कसौटी देता है जिस पर अंत में हमें अतीत की अपनी व्याख्या को कसना है। इतिहास में यही दिशा निदेशक की भावना ही हमें वह क्षमता देती है कि हम अतीत की घटनाओं को व्यवस्थित करके उनकी व्याख्या करें, जो एक इतिहासकार का दायित्व है और वर्तमान की मानवीय ऊर्जा को भविष्य की दृष्टि में रखकर मुक्त और संगठित करें, जो कि राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री और समाज सुधारक का कार्य है। किंतु प्रक्रिया अपने आप में प्रगतिशील और प्रवाहमान रहेगी। जैसे जैसे हम आगे बढ़ेंगे हमारी दिशा निदेशन की भावना और अतीत की हमारी व्याख्या अनवरत संशोधन और विकास की प्रक्रिया से गुजरती रहेंगी।

हीगेल ने अपने पूर्ण सत्य को विश्व आत्मा के रहस्यवादी आकार में प्रस्तुत किया और इतिहास की गति को भविष्य में प्रक्षेपित करने के बजाय वर्तमान में समाप्त करने की बड़ी गलती थी। उसने अतीत में अनवरत विकास की प्रक्रिया को पहचाना और बड़े ही अशोभन ढंग से भविष्य में उसी प्रक्रिया को नकार दिया। हीगेल के बाद जिन लोगों ने बेहद गंभीरता से इतिहास की प्रकृति पर विचार किए हैं; उन्होंने उसे अतीत और भविष्य के संश्लिष्ट रूप में ही देखा है।

टोकविले, यद्यपि अपने समय की आध्यत्मिक मुहावरेबाजी से मुक्त नहीं हो सका था और अपने पूर्ण सत्य को उसने बेहद सीमित अंतर्वस्तु से जोड़ा था, फिर भी इस विषय के सार को ग्रहण कर सका था। समानता के विकास को एक विश्वव्यापी स्थाई परिदृश्य के रूप में स्वीकारते हुए वह आगे कहता है: 'अगर हमारे समकालीन मानवों को समानता के क्रमिक और प्रगतिशील विकास का उनके अतीत और भविष्य के इतिहास के रूप में दर्शन कराया जा सकता, तो यह एकमात्र आविष्कार उस विकास को उनके प्रभु और स्वामी की इच्छा का पवित्र चरित्र दे सकता।'[18] इस असमाप्त अध्याय पर इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय लिखा जा सकता है। मार्क्स, जो भविष्य में झांकने के हीगेल के निषेधों से एक सीमा तक सहमत थे और अपने सिद्धांतों को मुख्यत: अतीत पर दृढ़ता से आधारित रखना चाहते थे, अपनी विषयवस्तु की प्रकृति से इस बात के लिए मजबूर हुए कि वर्गविहीन समाज के अपने पूर्ण सत्य को भविष्य में प्रक्षेपित करें। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर बरी ने प्रगति की धारणा को थोड़े भोंडेपन मगर स्पष्टता के साथ यों व्यक्त किया है: 'एक सिद्धांत जिसमें अतीत और भविष्य की कल्पना का समन्वय होता है।'[19] जानबूझकर उलटबांसी का प्रयोग करते हुए और अनेक उदाहरणों द्वारा उसकी पुष्टि करते हुए नेमियर कहता है कि इतिहासकार 'अतीत की कल्पना और भविष्य का स्मरण करते हैं।'[20] केवल भविष्य ही अतीत की व्याख्या के औजार हमें दे सकता है और केवल इसी अर्थ में हम इतिहास में पूर्ण वस्तुनिष्ठता की बात कर सकते हैं। अतीत भविष्य पर प्रकाश डालता है और भविष्य अतीत पर। यह तथ्य एक साथ इतिहास की व्याख्या भी है और उसका औचित्य भी निर्धारित करता है।

हम जब किसी इतिहासकार की वस्तुनिष्ठता की प्रशंसा करते हैं तो उससे हमारा आशय क्या होता है या कि जब हम एक इतिहासकार की तुलना में दूसरों को अधिक वस्तुनिष्ठ पाते हैं, तो हम किस आधार पर अपने निष्कर्ष निकालते हैं? बहुत स्पष्ट है कि ऐसा इतिहासकार न सिर्फ तथ्यों को सही ढंग से उपलब्ध कर लेता है, बल्कि वह सही तथ्यों को ही चुनता है या दूसरे शब्दों में वह तथ्यों का महत्व निर्धारित करने के सही मानदंडों का प्रयोग करता है। जब हम किसी इतिहासकार को वस्तुनिष्ठ कहते हैं तो मेरा ख्याल है हमारे कथन के दो आशय होते हैं। पहला यह कि उसमें इतिहास और समाज में निर्धारित उसके अपने सीमित दायरे के दृष्टिकोण से ऊपर उठने की क्षमता है। यह क्षमता, जैसा कि मैं अपने पहले के एक भाषण में बता चुका हूं, उस परिस्थिति में अपनी अंतर्ग्रस्तता (इनवाल्वमेंट) की सीमा को पहचानने की शक्ति पर एक हद तक निर्भर करती है अर्थात इस पहचान पर निर्भर करती है कि इतिहास में पूर्ण वस्तुनिष्ठता संभव नहीं है। हमारा दूसरा आशय यह होता है कि उक्त इतिहासकार में, उन अन्य

देता है और वास्तविक तथा संयोगपरक के बीच फर्क करना बताता है। अपने जीवन के अंतिम दिनों में गेटे ने थोड़े फूहड़पन से इस कठिन समस्या का समाधान प्रस्तुत कर दिया था : 'जब कोई युग पतनशील होता है तो सभी प्रवृत्तियां आत्मगत हो जाती हैं; लेकिन इसके विपरीत जब नए युग के आरंभ के लिए स्थितियां परिपक्व होती रहती हैं तो सभी प्रवृत्तियां वस्तुगत हो जाती हैं।'[21] इतिहास के भविष्य या समाज के भविष्य में विश्वास रखने को कोई मजबूर नहीं है। संभव है कि हमारा समाज एकबारगी नष्ट हो जाए या धीरे धीरे क्षय को प्राप्त हो और इतिहास का अध्यात्म में अवसान हो जाए अर्थात इतिहास मानव उपलब्धियों का अध्ययन न रह जाए, बल्कि दैवी उद्देश्यों का अध्ययन बन जाए या कि साहित्य के रूप में परिणित हो जाए यानी कहानियों और लोककथाओं का वर्णन मात्र रह जाए जिसका न कोई उद्देश्य हो, न महत्व। मगर तब यह उन अर्थों में इतिहास नहीं रह जाएगा जिन अर्थों में पिछले 200 वर्षों से हम इसे जानते आए हैं।

अभी मुझे उस सुपरिचित तथा लोकप्रिय विरोध की चर्चा करनी है जो किसी भी ऐसे सिद्धांत के विषय में उठाया जाता है जिसका संबंध भविष्य में ऐतिहासिक निष्कर्षों के लिए पूर्ण मानदंडों के प्रतिपादन से होता है। कहा जाता है कि ऐसे सिद्धांत का आशय यह है कि सफलता ही निष्कर्षों का अंतिम आधार है और यह कि अगर जो है वह सही नहीं है तो जो होगा वही सही होगा। पिछले 200 वर्षों में अधिकांश इतिहासकारों ने न केवल एक दिशा की कल्पना कर ली है जिधर इतिहास जा रहा है, बल्कि सचेत या अचेत रूप से विश्वास करने लगे हैं कि यह कुल मिलाकर सही दिशा है; मानवता बुरी स्थितियों से बेहतर स्थितियों की ओर, निम्नतर से उच्चतर की ओर जा रही है। इतिहासकार न केवल इस दिशा को पहचानता है, बल्कि इसका समर्थन भी करता है। अतीत के प्रति अपने रुख में महत्व का जो निकष उसने उपयोग किया था, उसमें केवल उस दिशा की ही चेतना नहीं निहित थी, जिधर इतिहास जा रहा है; बल्कि उस यात्रा में उसकी अपनी नैतिक अंतर्ग्रस्तता की चेतना भी निहित थी। 'है' और 'होना चाहिए' के बीच, तथ्य और मूल्य के बीच जो द्वित्व था, वह समाप्त हो गया। यह एक आशावादी दृष्टिकोण था, एक ऐसा दृष्टिकोण जो भविष्य के प्रति मानव की अटूट आस्था का युग था। ह्विग और उदारवादी, हीगेलवादी और मार्क्सवादी, आध्यात्मिक और तार्किक सभी इसके प्रति कम या अधिक स्पष्टता के साथ दृढ़ता से प्रतिबद्ध थे। बिना अतिरिक्त अतिश्योक्ति के 200 वर्षों तक इसे 'इतिहास क्या है ?' इस प्रश्न का स्पष्ट और सर्वस्वीकृत उत्तर कहा जा सकता था। इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया, निराशा और संदेह की वर्तमान मनस्थिति के साथ शुरू हुई है और जिसने अध्यात्मवादियों के लिए, जो इतिहास का अर्थ इतिहास के बाहर खोजते हैं और संशय-

वादियों के लिए, जो इतिहास में कोई अर्थ नहीं ढूंढ़ पाते, मैदान खुला छोड़ दिया है। अत्यधिक जोर देकर सभी तरह से हमें विश्वास दिलाया जाता है कि 'है' और 'होना चाहिए' के बीच जो द्वित्व है वह अपरिवर्तनीय और अंतिम है, इसे किसी प्रकार भी समाप्त नहीं किया जा सकता और 'तथ्यों' से 'मूल्यों' की प्राप्ति नहीं हो सकती। मेरा ख्याल है यह एक गलत रास्ता है। आइए देखें कि कुछ इतिहासकार या इतिहास से संबंधित लेखकों के, जिनका चुनाव बिना किसी ऊहा-पोह के कर लिया गया है, इस प्रश्न पर क्या विचार है? गिबन ने अपने वृत्तलेख में इस्लाम की विजय को इतना अधिक महत्व और स्थान इसलिए दिया था कि उसके विचार से अभी भी पूर्वी दुनिया के नागरिक और धार्मिक ध्वज 'मुहम्मद के शिष्यों के ही हाथों में है।' मगर, वह आगे कहता है, 'उतना ही परिश्रम अगर सातवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच साइथिया के मैदानी इलाकों से आने वाले जंगलियों के दलों पर किया जाए तो वह अनुचित होगा', क्योंकि 'बैजंटाइन साम्राज्य (बैजंतिया कांस्टेंटीनोपुल में स्थापित साम्राज्य) ने इन व्यवस्थाहीन आक्रमणों का सामना किया और जीवित रहा।'[22] यह कथन युक्तियुक्त लगता है। कुल मिलाकर इतिहास उन कार्यों का वृत्तांत है, जिन्हें लोगों ने किया, न कि उनका जिन्हें करने में वे असफल रहे और इस सीमा तक यह सफलताओं की कथा है। प्रो० टार्नै का मंतव्य है कि इतिहासकार एक वर्तमान व्यवस्था को 'अनिवार्यता की शक्ल में सामने रखते हैं। वे विजेता शक्तियों को खींचकर सामने ला खड़ा करते हैं और जिन शक्तियों को उन्होंने निगल लिया है, उन्हें पीछे धकेल देते हैं।'[23] मगर क्या एक तरह से यही इतिहासकार के कर्तव्य का सार नहीं है? इतिहास-कार को कभी विरोधी शक्तियों को तुच्छ करके नहीं आंकना चाहिए; अगर विजय आसानी से हो गई तो इसका अर्थ यह नहीं था कि विरोधी शक्तियों ने मैदान खाली छोड़ दिया था। कभी कभी पराजित शक्तियों का अंतिम परिणाम में उतना ही बड़ा योगदान होता है जितना विजेताओं का। यह प्रत्येक इतिहासकार का परिचित आदर्श वाक्य है। मगर कुल मिलाकर इतिहासकार का वास्ता उन लोगों से होता है जिनकी कुछ उपलब्धियां होती हैं, चाहे वे विजेता हों या विजित। मैं क्रिकेट के इतिहास का विशेषज्ञ नहीं हूं। परंतु उसके पृष्ठों पर उन्हीं नामों का उल्लेख है, जिन्होंने शतक बनाए थे; उनका नहीं जो शून्य पर आउट हो गए थे और अगले मैचों में टीम से हटा दिए गए थे। हीगेल के इस प्रसिद्ध कथन की कि 'केवल वे लोग हमारी दृष्टि आकर्षित करते हैं, जो राज्य स्थापित करते हैं',[24] आलोचना की गई थी। कहा गया है कि वह सामाजिक संगठन के एक विशेष रूप को आवश्यकता से अधिक महत्व देता है और घृणित राज्य पूजा को जन्म देता है और यह आलोचना उचित थी। परंतु सिद्धांत रूप से हीगेल जो कहना चाहता है वह सही है और इतिहास पूर्व तथा इतिहास के बीच के परिचित अंतर को

प्रतिबिंबित करता है; क्योंकि केवल वे लोग इतिहास में प्रवेश पा सके हैं, जिन्होंने कमोबेश अपने समाज को संगठित रूप दिया था और आदिम जंगलीपन के स्तर से ऊपर उठ सके थे। कार्लायल ने अपनी पुस्तक 'फ्रेंच रिवोल्यूशन' में लुई सोलहवें को 'विश्व संस्कारहीनता का अवतार' कहा था। उसे अपना यह मुहावरा प्रिय था क्योंकि बाद में उसने इसे एक लंबे अनुच्छेद में विस्तार दिया था : 'संस्थाओं, समाजव्यवस्थाओं, व्यक्ति मस्तिष्कों का यह कैसा नया विश्वव्यापी चक्करदार आंदोलन है, कि जो एक समय सहयोग कर रहे थे अब हतबुद्धि कर देने वाले चक्करों में उमड़ घुमड़ कर पिस रहे हैं। अंत में सड़ी हुई विश्व संस्कारहीनता टूटकर बिखर रही है।'[25]

इस बार भी इस कथन का आधार ऐतिहासिक है। एक युग में जो उपयुक्त था, वही दूसरे में संस्कारहीनता हो गया और उसी आधार पर तिरस्कृत हुआ। यहां तक कि सर बर्लिन भी जब दार्शनिक अमूर्तन की ऊंचाइयों से नीचे उतर कर ठोस ऐतिहासिक स्थितियों की चर्चा करते हैं तो इस दृष्टिकोण का समर्थन करते पाए जाते हैं। 'हिस्टोरिकल इनविटेबिलिटी' (ऐतिहासिक अनिवार्यता) पर अपने निबंध के प्रकाशन के बाद एक रेडियो वार्ता में उन्होंने बिस्मार्क की प्रशंसा की थी और स्वीकार किया था कि नैतिक दुर्बलताओं के बावजूद वह एक 'जीनिअस' था और 'राजनीतिक निर्णय लेने की श्रेष्ठतम क्षमता वाले गत शताब्दी के राजनेताओं में श्रेष्ठ था' और बिस्मार्क के विपरीत उदाहरणों के रूप में उन्होंने आस्ट्रिया के जासेफ द्वितीय, रोबेस्पियरी, लेनिन और हिटलर की चर्चा की थी और उनका निष्कर्ष था कि ये लोग 'अपने अंतिम लक्ष्य' को पहचानने में असफल हुए थे। यों यह निष्कर्ष मुझे कुछ विचित्र लगता है, मगर इस समय मुझे उस निष्कर्ष में नहीं, उसके आधार में रुचि है।

सर बर्लिन का मत है कि बिस्मार्क उन पदार्थों को पहचानता था जिनके बीच वह काम कर रहा था; दूसरे लोग अमूर्त सिद्धांतों से परिचालित हुए, जो उनके काम नहीं आए। इससे शिक्षा मिलती है कि 'किसी व्यवस्थित प्रणाली या सिद्धांत के लिए, जिसकी विश्वजनीन मान्यता का दावा किया जा सकता हो···जो तरीके सबसे अधिक कारगर हों उनके विपरीत जाने से असफलता ही हाथ लगती है।'[26] दूसरे शब्दों में इतिहास में निर्णय करने का आधार कोई 'विश्वजनीन मान्यता का दावेदार सिद्धांत' नहीं बल्कि वह है जो 'सबसे अधिक कारगर हो'। कहना न होगा कि केवल अतीत की व्याख्या करते समय ही 'सबसे अधिक कारगर' का यह आधार हम नहीं लागू करते हैं। अगर आपको कोई बताए कि इस मौजूदा संकटकाल में ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका का एक ही प्रभुसत्ता के अधीन एक संयुक्त राज्य बनना आवश्यक है तो आप मान लेंगे कि यह समझदारी की बात है। अगर वह आगे कहे कि सांविधानिक राजतंत्र की तुलना में अध्यक्षीय प्रजातंत्र सरकारी

तंत्र के रूप में वरेण्य है तो भी आप उससे सहमत हो जाएंगे कि यह भी एक समझदारी की बात है। मगर मान लीजिए तब वह आपसे कहे कि वह ब्रिटिश राजतंत्र के अंतर्गत उपरोक्त दोनों राज्यों के एकीकरण के लिए एक आंदोलन छेड़ने जा रहा है, तो शायद आपका उत्तर होगा कि ऐसा करके वह अपना समय नष्ट करेगा। अगर आप उसे समझाना चाहें कि आप ऐसा क्यों सोचते हैं तो आप कहेंगे कि इस तरह के मुद्दों पर बहस किसी सर्वमान्य सिद्धांत के आधार पर नहीं की जा सकती, वरन इस आधार पर की जाएगी कि विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति में क्या संभव है। आप शायद इतिहास का हवाला भी दें और कहें कि इतिहास उसके खिलाफ है। राजनीतिज्ञ का काम सिर्फ यह देखना नहीं है कि नैतिक या सैद्धांतिक रूप से क्या वांछनीय है, बल्कि उन शक्तियों को भी ध्यान में रखना होता है जो उस विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति में कार्यरत होती हैं और यह भी कि उनको किस प्रकार निदेशित या इस्तेमाल किया जाए कि जिससे अपने वांछनीय लक्ष्य की आंशिक पूर्ति की जा सके। हमारे राजनीतिक फैसले, जो हम इतिहास की व्याख्या के आधार पर लेते हैं, इसी समझौते में अपनी जड़ें जमाते हैं। परंतु इतिहास की हमारी व्याख्या की जड़ें भी इसी समझौते में होती हैं। वांछनीयता क. कोई काल्पनिक अमूर्त मानदंड बनाकर उसकी रोशनी में अतीत की भर्त्सना करने से बढ़कर कोई झूठ नहीं हो सकता। 'सफलता' शब्द के स्थान पर, जो इन दोनों क्रोधोत्पादक ध्वनि देने लगा है, हम बड़ी आसानी से 'वह जो सबसे ज्यादा कारगर हो' जैसे तटस्थ मुहावरे का प्रयोग कर सकते हैं। इन भाषणों के दौरान मैंने कई बार सर बर्लिन का अगल अलग मुद्दों पर विरोध किया है, मुझे खुशी है कि कम से कम इस मुद्दे पर मैं उनसे सहमत हो सका हूं।

मगर 'वह जो सबसे ज्यादा कारगर हो' का आधार स्वीकार कर लेने से ही इसका प्रयोग न तो आसान हो जाता है और न स्वत: स्पष्ट ही। यह वह आधार नहीं है जो आकस्मिक निर्णय को बढ़ावा देता हो या जो इस दृष्टिकोण के समक्ष समर्पण कर देता हो कि जो है, सही है। इतिहास में फलप्रद असफलताएं अज्ञात नहीं हैं। इतिहास में 'विलंबित उपलब्धियां' संभव हैं। आज की स्पष्ट असफलताएं कल की उपलब्धियों में महत्वपूर्ण योगदान दे सकती हैं, अपने समय से पूर्व जन्मे मसीहा की तरह। वस्तुत: तथाकथित स्थाई तथा विश्वजनीन सिद्धांतों की तुलना में इस आधार के लाभों में से एक यह है कि यह हमसे अपने फैसले स्थगित करने की मांग कर सकता है या अभी तक अघटित घटनाओं की रोशनी में उनमें संशोधन की मांग कर सकता है। प्राउधान ने, जो खुले आम अमूर्त नैतिक सिद्धांतों की भाषा बोलता था नेपोलियन तृतीय की सैनिक क्रांति का उसकी सफलता के बाद समर्थन किया। मार्क्स ने, जो अमूर्त नैतिक सिद्धांतों को नहीं मानते थे, प्राउधान की इसके लिए निंदा की। दीर्घतर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में पीछे देखने पर, हम संभवत:

स्वीकार करेंगे कि मार्क्स सही थे और प्राउधान गलत। ऐतिहासिक निर्णय की इस समस्या की परीक्षा के लिए बिस्मार्क की उपलब्धियां एक बेहतरीन प्रस्थान विंदु का काम देंगी। सर बर्लिन के 'सबसे ज्यादा कारगर' आधार को स्वीकार करते हुए भी, मैं अब भी चकित हूं कि कैसे वह इतनी सीमित तथा अल्प अवधि सीमा के अंतर्गत इसका प्रयोग करके संतुष्ट है? क्या बिस्मार्क ने जिसका निर्माण किया था, वह सचमुच ठीक कार्य करता रहा? मुझे सोचना चाहिए कि वह एक महान विध्वंस की दिशा में ले गया। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं बिस्मार्क की भर्त्सना करना चाहता हूं, जिसने जर्मन रीख का निर्माण किया, या जर्मन जनसाधारण की निंदा करने का मेरा इरादा है, जिन्हें उसकी जरूरत थी और जिन्होंने उसके निर्माण में बिस्मार्क के साथ सहयोग किया था। परंतु एक इतिहासकार के रूप में मुझे अभी बहुत से सवाल करने हैं। क्या वह महान विध्वंस इसलिए घटित हुआ कि रीख के निर्माण में कोई प्रच्छन्न दोष रह गया था? या कि इसे जन्म देने वाली अतिरिक्त स्थितियों में ही कुछ ऐसा था कि वह खुद ब खुद जिद्दी और आक्रामक होने को बाध्य था। निश्चय ही जब रीख का निर्माण हुआ तो यूरोप या विश्व का परिवेश पहले से ही संकुल था और बड़ी शक्तियों में विस्तारवादी प्रवृत्ति इतनी प्रबल थी कि एक और बड़ी शक्ति का जन्म अपने आप में इस बात का पर्याप्त कारण था इनमें तेज टक्करें हों और पूरी विश्वव्यवस्था धराशायी हो जाए। इस अंतिम अवधारणा के आधार पर परवर्ती विध्वंस के लिए बिस्मार्क और जर्मन जाति को जिम्मेदार, पूरी तौर पर जिम्मेदार, ठहराना गलत होगा। दर-अस्ल किसी कार्य के लिए केवल अंतिम कारण को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। मगर बिस्मार्क की उपलब्धियों के बारे में और उनके परवर्ती परिणामों के बारे में कोई वस्तुनिष्ठ निष्कर्ष निकालने के पहले इतिहासकार से इन प्रश्नों के उत्तरों की अपेक्षा की जाती है, और मुझे शक है कि अभी भी वह इन प्रश्नों के निश्चित उत्तर देने की स्थिति में है। मैं कहना चाहूंगा कि 19वीं शताब्दी के नवम दशक के इतिहास की अपेक्षा 20वीं शताब्दी के तीसरे दशक का इतिहासकार वस्तुनिष्ठ निष्कर्षों के अधिक निकट है और 21वीं शताब्दी का इतिहासकार उसके और भी निकट होगा। यह मेरे सिद्धांत का निदर्शन करता है कि इतिहास में वस्तु-निष्ठता को किसी प्रचलित, स्थिर और अपरिवर्तनीय मानदंड के अधीन नहीं किया जा सकता, वरन उस मानदंड के अधीन किया जाना चाहिए जो भविष्य में स्थित है और इतिहास की गति के साथ क्रमशः विकसित होगा। इतिहास तभी अर्थ और वस्तुनिष्ठता प्राप्त कर सकता है जब यह अतीत और भविष्य के बीच एक सुस्पष्ट संबंध सेतु कायम कर ले।

आइए हम एक बार और तथ्य और मूल्य के द्वित्व का अध्ययन करें। तथ्यों से मूल्य नहीं निकाले जा सकते। यह कथन आंशिक रूप से सही और आंशिक रूप

से गलत है। आप अगर किसी काल या देश में प्राप्त मूल्यों की परीक्षा करें तो आपको पता चल जाएगा कि उनका कितना अंश परिवेशगत तथ्यों से निर्मित है। पहले के एक भाषण में मैं आपका ध्यान स्वाधीनता, समानता और न्याय जैसे मूल्यबोधक शब्दों की बदलती हुई ऐतिहासिक अंतर्वस्तु की ओर आकर्षित कर चुका हूं। या आप नैतिक मूल्यों के प्रचार में रत संस्था के रूप में चर्च को ले सकते हैं। आप आदिकालीन ईसाइयत के मुकाबले मध्यकालीन पोप व्यवस्था को रखकर देखें या मध्यकालीन पोप व्यवस्था के मुकाबले 19वीं शताब्दी के प्रोटैस्टेंट चर्च को रख कर देखें या फिर हम स्पेन में ईसाई चर्चों द्वारा प्रचारित मूल्यों के साथ संयुक्त राज्य अमरीका में ईसाई चर्चों द्वारा प्रचारित मूल्यों को लें। मूल्यों का यह अंतर उक्त देशों के ऐतिहासिक तथ्यों के अंतर में निहित है। या फिर हम पिछली डेढ़ शताब्दी के ऐतिहासिक तथ्यों को लें जिन्होंने दासप्रथा, रंगभेद या बाल श्रम के विदोहन (शोषण) को जन्म दिया, जो एक समय नैतिक रूप से ठीक ठाक और सम्माननीय माने जाते थे और जो आज पूर्णतः अनैतिक करार दिए जाते हैं। यह प्रस्तावना कि तथ्यों से मूल्य नहीं बनते हैं एक पक्षीय और भ्रमात्मक है। आइए इस कथन को उलट कर देखें। मूल्यों से तथ्य नहीं बनते हैं। यह कथन भी आंशिक रूप से ही सही है और भ्रमात्मक हो सकता है और व्याख्या की अपेक्षा रखता है। हम जब तथ्यों को जानना चाहते हैं, तो जो प्रश्न हम पूछते हैं और इसलिए जो उत्तर हम प्राप्त करते हैं, हमारे मूल्यों की व्यवस्था द्वारा प्रेरित होते हैं। हमारे परिवेशगत तथ्यों की हमारी तस्वीर हमारे मूल्यों द्वारा बनती है अर्थात उन श्रेणियों द्वारा जिनके माध्यम से हम मूल्यों तक पहुंचते हैं और यह तस्वीर एक महत्वपूर्ण तथ्य है, जिसको हमें ध्यान में रखना चाहिए। मूल्य तथ्यों में प्रवेश कर जाते हैं और उनके आवश्यक अंग बन जाते हैं। मानव के रूप में हमारे उपस्कर (सज्जा) के एक आवश्यक अंग हैं, हमारे मूल्य। केवल अपने मूल्यों के माध्यम से ही हमारे अंदर अपने परिवेश के अनुरूप खुद को ढालने और अपने अनुरूप अपने परिवेश को ढालने और अपने परिवेश पर उस प्रकार का स्वामित्व स्थापित करने की क्षमता प्राप्त होती है, जो इतिहास को प्रगति का आलेख बनाती है। मगर अपने परिवेश के साथ मनुष्य के संघर्ष का नाटकीकरण आपको नहीं करना चाहिए और न ही उसके आधार एक मिथ्या विश्लेषण पद्धति और तथ्य तथा मूल्यों के बीच एक मिथ्या दीवार ही खड़ी करनी चाहिए। मूल्यों तथा तथ्यों की परस्पर निर्भरता तथा क्रियाप्रतिक्रिया के माध्यम से ही इतिहास में प्रगति की उपलब्धि की जाती है। वस्तुनिष्ठ इतिहासकार वह इतिहासकार है जो इस अन्योन्याश्रित प्रक्रिया में अत्यंत गहरे उतरता है।

तथ्यों और मूल्यों की इस समस्या का सूत्र 'सत्य' शब्द के सामान्य प्रयोग में से मिलता है। 'सत्य' एक ऐसा शब्द है, जो तथ्यों और मूल्यों की दोनों दुनियाओं

व्याप्त है और दोनों के तत्वों से बना है। यह मात्र अंगरेजी भाषा की अपनी विशेषता नहीं है। लैटिन भाषा में इसके लिए प्रयुक्त शब्द, जर्मन भाषा का शब्द 'वारहीट' रूसी भाषा का शब्द 'प्रावदा'[27] सभी में यह दुहरा चरित्र विद्यमान है। हर भाषा में 'सत्य' शब्द के लिए एक ऐसी अभिव्यक्ति की आवश्यकता महसूस की गई है जो केवल तथ्य कथन है और न ही मात्र मूल्य निर्णय, वरन दोनों को समाहित किए हुए है। दूसरी ओर जब संयुक्त राज्य अमरीका के स्थापकों ने अपनी 'स्वाधीनता के घोषणापत्र' में इस स्वतः प्रमाणित सत्य की घोषणा की कि सभी मनुष्यों का निर्माण समान हुआ है, तो उसमें आपको अनुभव होगा कि वक्तव्य की मूल्यगत अंतर्वस्तु, तथ्यगत अंतर्वस्तु पर भारी पड़ती है और उसी आधार पर वक्तव्य के 'सत्य' ध्रुवों के बीच कहीं पर अर्थात मूल्यविहीन तथ्यों के उत्तरी ध्रुव अर्थात ध्रुव और मूल्य निर्णय के दक्षिणी ध्रुव के बीच तथ्य में रूपांतरित होने के लिए संघर्ष करते हुए, ऐतिहासिक सत्य की दुनिया स्थित है। जैसा कि मैं अपने पहले भाषण में कह चुका हूं इतिहासकार तथ्य और उसकी व्याख्या के बीच, तथ्य और मूल्य के बीच संतुलन स्थापित करता है। वह उन्हें अलग नहीं कर सकता। हो सकता है कि एक गतिहीन विश्व में आप तथ्य और मूल्य के बीच विभेद करने को बाध्य हों। परंतु गतिहीन विश्व में इतिहास का कोई अर्थ नहीं होता। तत्वतः इतिहास परिवर्तन और गति में या, अगर आपको इस पुराने शब्द से परेशानी न हो तो, प्रगति में निहित है।

और अंत में मैं फिर ऐक्टन द्वारा प्रतिपादित 'प्रगति' की व्याख्या को दुहराना चाहूंगा कि प्रगति 'वह वैज्ञानिक अवधारणा है जिसके आधार पर इतिहास लिखा जाता है।' अगर आप चाहें तो अतीत के अर्थ की किसी गैरऐतिहासिक या परातार्किक शक्ति पर निर्भर करके उसे अध्यात्म में बदल सकते हैं। आप चाहें तो इसे साहित्य के रूप में बदल सकते हैं, कहानियों और लोककथाओं के संकलन के रूप में जो, अर्थहीन और महत्वहीन होती है। इतिहास, जिसे हम सही मायनों में इतिहास कहते हैं उन्हीं के द्वारा लिखा जा सकता है, जो इतिहास में ही उसके निदेशन की चेतना का होना स्वीकार करते हैं। हम कहीं से आए हैं इस विश्वास के साथ ही यह विश्वास भी घनिष्ठ भाव से जुड़ा है कि हम कहीं जा रहे हैं। ऐसा समाज जो भविष्य की दिशा, प्रगति करने की अपनी क्षमता में विश्वास खो चुका है, शीघ्र ही अतीत में अपनी प्रगति में दिलचस्पी लेना खत्म कर देगा। जैसा कि मैंने अपने प्रथम भाषण के आरंभ में कहा था कि इतिहास में हमारा दृष्टिकोण हमारे सामाजिक दृष्टिकोण को प्रतिबिंबित करता है। समाज के भविष्य और साथ ही इतिहास के भविष्य में अपनी आस्था की घोषणा करते हुए मैं अब अपने प्रस्थानबिंदु पर वापस आता हूं।

संदर्भ

1. एफ़. पोविक : 'माडर्न हिस्टोरियंस ऐंड दि स्टडी ग्राफ हिस्ट्री' (1655), पृ० 174.
2. ट्वायन्बी ने अधिकारपूर्वक स्वीकार किया है कि 'इतिहास अध्यात्म में अतिक्रमण कर जाता है.' ('सिविलाइजेशन आन ट्रायल', 1948, भूमिका).
3. दे रेरम नतूरी iii, पृ० 982-5.
4. गिबन : 'दि डिक्लाइन ऐंड फाल ग्राफ दि रोमन इंपायर', अध्याय xxxviii; इस कथन का प्रसंग पश्चिमी साम्राज्य का पतन था. 18 नवंबर, 1960 के 'दि टाइम्स लिट्रेरी सप्लिमेंट' में प्रकाशित एक लेख में आलोचक ने इन पंक्तियों को उद्धृत करते हुए पूछा था कि क्या गिबन का ग्राशय वही था जो ये पंक्तियां कहती हैं. निश्चय ही उसका यही ग्राशय था क्योंकि किसी लेखक का दृष्टिकोण जिस काल में वह रहा है उसे ज्यादा व्यक्त करता है, बनिस्बत उसके जिसके बारे में वह लिख रहा है, उक्त आलोचक ने ग्रपनी बीसवीं शताब्दी के मध्य की संशयात्मकता को अठाहरवीं शताब्दी के अंतिम दशकों के लेखक पर ग्रारोपित करके इस सच्चाई को प्रदर्शित किया है.
5. कैंब्रिज माडर्न हिस्ट्री : इट्स ओरिजिन, आथरशिप, ऐंड प्रोडक्शन (1907), पृ० 13, कैंब्रिज माडर्न हिस्ट्री, i (1902), पृ० 4; xii (1910), पृ० 791.
6. बी. रसेल : पोर्ट्रेट फ्राम मेमोरी (1956), पृ० 17.
7. जे. बी. बरी : दि आइडिया ग्राफ प्रोग्रेस (1920), पृ० vii-viii.
8. बी. रसेल : पोर्ट्रेट फ्राम मेमोरी (1956), पृ० 124.
9. दि आब्जर्वर, 21 जून, 1959.
10. टी. ग्रार्नल्ड : ऐन इनागुरल 'लेक्चर आन दि स्टडी' आफ माडर्न हिस्ट्री (1841), पृ० 38.
11. ऐक्टन : 'लेक्चर्स ग्रान माडर्न हिस्ट्री', (1906), पृ० 51.
12. के. मानहीम : आइडियालोजी ऐंड यूटोपिया (अंगरेजी अनुवाद, 1936), पृ० 236 में मनुष्य की 'इतिहास को रूप देने की इच्छाशक्ति' के साथ 'इतिहास को समझने' की उसकी क्षमता को रखकर प्रस्तुत करता है.
13. एफ़. एच. ब्रैडले : एथिकल स्टडीज, (1876), पृ० 293.
14. ऐसी स्थिति के स्पष्टीकरण के लिए देखिए आर. एस लिंड : नालेज फार ह्वाट ? (न्यूयार्क, 1839), पृ० 88. हमारी सभ्यता में बूढ़े लोग अक्सर ग्रतीत की ग्रोर मुड़ते हैं, जो उनकी शक्ति ग्रौर पौरुष का युग था और भविष्य का एक खतरे की तरह विरोध करते हैं. यह संभव है कि सापेक्षित शक्ति के क्षय और ध्वंस की ग्रोर उन्मुख एक समूची सभ्यता का किसी बीते हुए स्वर्णयुग की ग्रोर तेज झुकाव हो, जबकि वर्तमान में मानव जीवन बेहद ढीला चल रहा है.
15. फारेन अफेयरर्स, xxviii नं० 3 (जून, 1950), 382.
16. जे. बी. बरी : दि ग्राइडिया ग्राफ प्रोग्रेस, (1920), पृ० ix.
17. एच. बटरफील्ड : दि ह्विग इंटरप्रटेशन ग्राफ हिस्ट्री, (1931), पृ० 58, मिलाइए ए. वोन मार्टिन कृत, दि सोसियालाजी आफ दि रिनेसां (अंगरेजी अनुवाद, 1945), पृ० i पर दिए गए विस्तृत मंतव्य से : 'इतिहास के प्रति समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की मूलभूत श्रेणियां हैं, गतिहीनता और गति, स्थिर या गतिशील···इतिहास में गतिहीनता केवल एक सापेक्ष ग्रर्थ में ग्राती है; निर्णायक प्रश्न है कि जड़ता या परिवर्तन में से कौन प्रबल

ग्रौर प्रभावी है.' इतिहास में परिवर्तन निश्चित ग्रौर पूर्ण और जड़ता ग्रात्मगत तथा सापेक्ष तत्व है.

18. डि टोकविले : डिमोक्रेसी इन ग्रमेरिका का प्राक्कथन.
19. जे. बी. बरी : दि आइडिया ग्राफ प्रोग्रेस (1920), पृ० 5.
20. एल. बी. नेमियर : कानफ्लिक्ट्स, (1842), पृ० 70.
21. जे. हुइजिंगा कृत : 'मेन एंड ग्राइडियाज', (1959), पृ० 50 पर उद्धृत.
22. गिबन : 'दि डिक्लाइन ऐंड फाल ग्राफ रोमन इंपायर', ग्रध्याय 1, v.
23. आर. एच टाने : दि अग्रेरियन प्राब्लम इन दि सिक्स्टींथ सेंचुरी (1912), पृ० 177.
24. लेक्चर्स ग्रान दि फिलासफी ग्राफ हिस्ट्री (अंग्रेजी ग्रनुवाद, (1884), पृ० 40.
25. टी. कार्लायन : दि फ्रेंच रिवोलूशन, ii, अध्याय 4; I, iii अध्याय 7.
26. 'पोलिटिकल जजमेंट' शीर्षक रेडियो वार्ता जो बी. बी. सी से 19 जून, 1957 के तीसरे कार्यक्रम में प्रसारित की गई.
27. 'प्रावदा' शब्द की व्युत्पत्ति बड़ी दिलचस्प है. 'सत्य' का पर्यायवाची एक ग्रौर पुराना रूसी शब्द है 'इस्तिना'. मगर इन दोनों शब्दों का अंतर 'सत्य' तथ्य के रूप में और सत्य मूल्य के रूप में नहीं किया गया है. 'प्रावदा' दोनों ही रूपों में मानवीय 'सत्य' को व्यक्त करता है जबकि 'उस्तिना' दैवी सत्य को दोनों रूपों में व्यक्त करती है अर्थात ईश्वर के विषय में सत्य का रूप और 'सत्य' जैसाकि उसे ईश्वर ने प्रगट किया है.

6

फैलते हुए क्षितिज

मैंने इन भाषणों में इतिहास को एक ऐसी निरंतर गतिशील प्रक्रिया के रूप में पेश किया है, जिसके भीतर इतिहासकार गतिशील होता है, इसी परिप्रेक्ष्य में अपने समय में इतिहास और इतिहासकार की स्थिति के बारे में उपसंहार स्वरूप कुछ विचार आपके सामने रखना जरूरी लग रहा है। हम एक ऐसे युग में रह रहे हैं जब विश्व के विनाश की भविष्यवाणी गूंज रही है और सभी के मन पर उसका दबाव है हालांकि ऐसा इतिहास में पहली बार नहीं हुआ है। इस भविष्यवाणी को न प्रमाणित किया जा सकता है और न अप्रमाणित ही। यह भविष्यवाणी, निश्चय ही उस भविष्यवाणी से कि हम सभी एक दिन मर जाएंगे, कम निश्चित है और चूंकि हम अपनी मृत्यु निश्चित होने के बावजूद अपने भविष्य की योजनाएं बनाने से नहीं चूकते, इसीलिए मैं अपने समाज के वर्तमान और भविष्य की चर्चा को आगे बढ़ाता हूं और यह मानकर चलता हूं कि यह देश या अगर यह नहीं, तो विश्व का कोई भी बड़ा हिस्सा उस विनाश के बाद भी बच रहेगा जिसकी भविष्यवाणी की जा रही है और इस तरह इतिहास आगे चलेगा।

बीसवीं शताब्दी के बीच के वर्षों में विश्व में परिवर्तन की प्रक्रिया मध्य युग को पतन, और 15वीं-16वीं शताब्दी में आधुनिक युग की नींव पड़ने के बाद से होने वाले किसी भी अन्य परिवर्तन की तुलना में अधिक पूर्ण और सर्वव्यापी रही है। निश्चय ही यह परिवर्तन वैज्ञानिक आविष्कारों और खोजों, उनके निरंतर व्यापक होते हुए प्रयोग और प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उनसे संभूत विकास का प्रतिफल है। इस परिवर्तन का सबसे ध्यानाकर्षक पक्ष है एक सामाजिक क्रांति जिसकी तुलना उस क्रांति से की जा सकती है जिसके फलस्वरूप 15वीं-16वीं शताब्दी में एक नई वर्ग-शक्ति के उत्थान का आरंभ हुआ था और इस वर्ग की जड़ें आरंभ में धन और वाणिज्य में तथा बाद में उद्योग में निहित थीं। हमारे उद्योगों के नए ढांचे और हमारे समाज के नए ढांचे में से इतनी अधिक समस्याएं पैदा हो रही हैं कि उसे इस चर्चा में समेटना संभव नहीं है। मगर इस परिवर्तन के दो पक्ष ऐसे हैं जो हमारे विषय के लिए तात्कालिक रूप से प्रासंगिक हैं, उन्हें मैं 'गहराई में परिवर्तन' और 'भौगोलिक विस्तारक्षेत्र में परिवर्तन' कहूंगा। इन पक्षों पर मैं संक्षेप में चर्चा करूंगा।

इतिहास तब आरंभ होता है जब आदमी यह सोचना शुरू करता है कि 'समय' केवल प्राकृतिक प्रक्रिया नहीं है यानी केवल ऋतुओं का आवर्तन और मानव जीवन चक्र ही इसमें सम्मिलित नहीं है, बल्कि यह विशिष्ट घटनाओं का एक क्रम है,

जिसमें सचेत रूप से मनुष्य सक्रिय है और जिसे वह सचेत रूप से प्रभावित कर सकता है। बर्कहार्ट के शब्दों में 'चेतना के जागरण के कारण प्रकृति से टूटकर अलग होना'[1] ही इतिहास है। अपनी तर्क शक्ति के प्रयोग से अपने परिवेश को समझने और तदनुरूप क्रिया करने का लंबा संघर्ष इतिहास है। परंतु आधुनिक युग ने इस संघर्ष में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिए हैं। अब आदमी न केवल अपने परिवेश को समझने और तदनुरूप क्रिया करने की कोशिश करता है, बल्कि खुद को भी समझने और तदनुरूप क्रिया करने की कोशिश कर रहा है और कहना चाहिए कि इसने मानवीय तर्क और इतिहास को नया आयाम दिया है। आधुनिक युग अन्य सभी युगों से ऐतिहासिकतावादी है। आधुनिक मनुष्य अभूतपूर्व रूप से आत्मचेतन और इसलिए इतिहास चेतन है। वह अपने पीछे की हल्की रोशनी में इस आशा से झांकता है कि उसकी मद्धिम किरणें उसके गंतव्य के अंधेरे को रोशन करेंगी। और इसके विपरीत अपने गंतव्य के बारे में उसकी आकांक्षाओं और उद्वेगों से जो पीछे छूट गया है उसमें उसकी अंतर्दृष्टि और गहरे पैठती है। इतिहास की अनंत शृंखला में अतीत, वर्तमान और भविष्य जुड़े हुए हैं।

आधुनिक विश्व में परिवर्तन की प्रक्रिया का आरंभ, जो मनुष्य की आत्म-सचेतनता के विकास से युक्त है, डेस्कार्टीज से कहा जाना चाहिए, जिसने सर्वप्रथम प्रतिपादित किया कि मनुष्य वह प्राणी है, जो न केवल सोच सकता है, बल्कि अपने सोच के बारे में भी सोच सकता है; जो प्रेक्षण की प्रक्रिया में खुद अपना प्रेक्षण कर सकता है; इस प्रकार मनुष्य विचार और प्रेक्षण का एक साथ ही कर्ता और कार्य विषय और वस्तु दोनों ही है। मगर यह परिवर्तन 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आकर सुस्पष्ट हुआ, जब रूसो ने मानव आत्मसचेतनता और आत्मज्ञान की नई गहराइयों का उद्‌घाटन किया और प्राकृतिक जगत तथा परंपरित सभ्यता के विषय में आदमी को नई दृष्टि दी। डि टोकविले का कथन है कि 'फ्रांसीसी क्रांति की प्रेरणा इस विश्वास में निहित थी कि मानवीय तर्क और प्राकृतिक नियमों पर आधारित सहज स्वाभाविक नियमों द्वारा समाज व्यवस्था पर हावी परंपरित रीति रिवाजों के जाल को उखाड़ फेंकना आवश्यक है।'[2] ऐक्टन ने अपनी एक हस्त-लिखित टिप्पणी में लिखा था : 'इसके पहले कभी मनुष्य ने स्वाधीनता की आकांक्षा इतने सचेत रूप में नहीं की थी।'[3] ऐक्टन के लिए, और हीगेल के लिए भी, स्वा-धीनता और तर्क दो अलग चीजें नहीं थीं। और फ्रांसीसी क्रांति के साथ ही अमरीकी क्रांति जुड़ी हुई थी।

'सतासी वर्ष पूर्व हमारे पूर्वजों ने इस महाद्वीप पर एक नए राष्ट्र की नींव डाली जिसकी कल्पना का आधार स्वाधीनता थी और जो इस प्रस्ताव पर आधा-रित था कि सभी मनुष्यों का निर्माण समान हुआ है।' जैसा लिंकन के शब्दों से स्पष्ट होता है यह एक अभूतपूर्व घटना थी, इतिहास में यह पहला मौका था जब

आदमी ने सचेत रूप से और संकल्प लेकर अपने लिए एक राष्ट्र व्यवस्था संगठित की थी और फिर सचेत रूप से और संकल्प लेकर दूसरे मनुष्य उस राष्ट्र व्यवस्था में ढलने के लिए प्रवृत्त हुए थे। 17वीं-18वीं शताब्दी में ही मनुष्य अपने चारों तरफ की दुनिया और उसके नियमों के प्रति पूरी तौर पर सजग हो गया था। उसके लिए वे नियम किसी रहस्यमय नियति की इच्छा नहीं थे, बल्कि ऐसे नियम थे जिन्हें तर्क बुद्धि से समझा जा सकता था। मगर वे ऐसे नियम थे, जिनके अधीन मनुष्य थे, वे ऐसे नियम नहीं थे जिनका निर्माता स्वयं मनुष्य था। परवर्ती विकास काल में मनुष्य अपने परिवेश और अपने आप पर अपनी शक्ति के प्रति और ऐसे नियमों के निर्माण के अधिकार के प्रति भी कि जिनके अधीन वह सुचारु जीवन यापन कर सके, सजग हो गया था। 18वीं शताब्दी से आज तक की आधुनिक दुनिया का यह संक्रांति काल लंबा और क्रमिक रहा है। इसके प्रतिनिधि दार्शनिक हीगेल और मार्क्स रहे हैं और दोनों का स्थान अपने आप में महत्वपूर्ण है। हीगेल के सिद्धांत की जड़ें नियति के नियमों को तर्क के नियमों में रूपांतरित करने की धारणा में रोपित हैं। हीगेल की 'विश्व आत्मा' की धारणा एक हाथ से नियति को दृढ़ता के साथ पकड़ती है और दूसरे से तर्क को। वह ऐडम स्मिथ के मत को प्रतिध्वनित करता है। व्यक्ति 'अपनी रुचि को तृप्त करते हैं, मगर इस प्रतिक्रिया में एक और उपलब्धि स्वतः हो जाती है, जो उनके कार्यों में तो निहित होती है परंतु उनकी चेतना में नहीं।' विश्व आत्मा के तार्किक उद्देश्य के बारे में वह लिखता है कि मनुष्य 'इसे प्राप्त करने की प्रक्रिया में ही इसे अपनी इच्छापूर्ति का अवसर बना लेता है, जबकि इसका आशय उक्त उद्देश्य से भिन्न होता है।' जर्मन दर्शन की शब्दावली में इसे रूपांतरित किया जाए तो इसे सिर्फ रुचियों का सामंजस्य कहेंगे।[4] स्मिथ के मुहावरे 'अदृश्य हाथ' का पर्यायवाची हीगेल का मुहावरा 'तर्क की चतुराई' था, जो मनुष्य को ऐसे उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सक्रिय होने को प्रेरित करता है, जिसके प्रति वे सजग नहीं होते हैं। परंतु हीगेल वस्तुतः फ्रांसीसी क्रांति का दार्शनिक था, पहला दार्शनिक जिसने ऐतिहासिक परिवर्तन में और मनुष्य की आत्मचेतना के विकास में यथार्थ की सारवस्तु को लक्ष्य किया था। इतिहास में विकास का अर्थ है स्वाधीनता की धारणा की दिशा में विकास। परंतु 1815 के बाद के वर्षों में फ्रांसीसी क्रांति की प्रेरणा 'पुनर्प्रतिष्ठा' के ऊहापोह में तिरोहित हो गई थी। हीगेल राजनीतिक रूप से इतना साहसहीन और, अपने अंतिम दिनों में, अपने समय की व्यवस्था के साथ इतनी दृढ़ता से जुड़ा हुआ था कि अपनी आध्यात्मिक विचारधारा को कोई नया अर्थ देना उसके लिए संभव न था। हीगेल के सिद्धांत को हर्जेन ने 'क्रांति का बीजगणित' कहा था, जो अत्यंत समीचीन था। हीगेल ने संकेत चिह्न तो प्रस्तुत किए परंतु इसमें व्यावहारिक अंतर्वस्तु की स्थापना न कर सका। हीगेल की बीजगणितीय समीकरणों में अंक-

गणित के योगदान का काम मार्क्स के लिए रह गया था।

ऐडम स्मिथ और हीगेल दोनों का शिष्यत्व स्वीकार करके मार्क्स ने इस अवधारणा से कार्य आरंभ किया कि यह विश्व प्रकृति के तार्किक नियमों द्वारा परिचालित है। हीगेल के समान ही, परंतु कहीं अधिक व्यावहारिक और ठोस रूप में उसने विश्व की उस अवधारणा की ओर संचरण किया जिसके अनुसार यह विश्व उन नियमों द्वारा व्यवस्थित है, जिनका विकास मनुष्य की क्रांतिकारी पहल शक्ति की अनुक्रियास्वरूप एक तार्किक प्रक्रिया द्वारा होता है। मार्क्स के अंतिम आकलन के अनुसार इतिहास में तीन तत्व होते हैं, जो एक दूसरे से अविभाज्य हैं और तीनों मिलकर एक तार्किक तथा पूर्वापर संबद्ध आकार ग्रहण करते हैं। ये तत्व हैं: मूलभूत आर्थिक नियमों और उद्देश्यों के अनुरूप घटनाओं की गति; एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के माध्यम से तदनुरूप विचारों का विकास और वर्ग संघर्ष के रूप में तदनुसारी सक्रियता, जो क्रांति के सिद्धांत और व्यवहार को परस्पर संबद्ध तथा अन्योन्याश्रित रूप देते हैं। मार्क्स जो कुछ हमें दे रहे हैं वह वस्तुनिष्ठ नियमों का आकलन और उन्हें व्यावहारिक रूप देने की सचेत या सक्रियता है जिसे कभी कभी (हालांकि भ्रम के कारण) नियतिवादिता और स्वेच्छावादिता कह दिया जाता है। मार्क्स लगातार उन नियमों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते रहे हैं, मानव अनजाने ही जिनके अधीन रहा है। एकाधिक बार उन्होंने पूंजीवादी अर्थतंत्र और पूंजीवादी समाज में फंसे लोगों की 'मिथ्या सचेतनता' का उल्लेख किया है 'उत्पादन के नियमों के बारे में जो धारणाएं उत्पादन और वितरण के एजेंटों के मन में बनती हैं वे वास्तविक नियमों से काफी अलग होती हैं।'[5] लेकिन हमें मार्क्स की रचनाओं में सचेत क्रांतिकारी सक्रियता के लिए आह्वान के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं। फायर बाख़ पर उनकी प्रसिद्ध उक्ति यों शुरू होती है: 'दार्शनिकों ने विश्व की भिन्न भिन्न व्याख्याएं की हैं, परंतु मुद्दा है उसे बदलने का।'[4] 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' घोषणा करता है: 'सर्वहारा अपने राजनीतिक प्राबल्य का इस्तेमाल करके क्रमशः बुर्जुआ वर्ग के हाथों से पूंजी को पूरी तौर से छीन लेगा और उत्पादन के सारे साधनों को राज्य के हाथों में सौंप देगा।' 'एटींथ ब्रूमेर आफ लुई बोनापार्ट' में मार्क्स लिखते हैं: 'बौद्धिक आत्मचेतनता सभी परंपरागत धारणाओं को सदियों चलने वाली प्रक्रिया में धीरे धीरे समाप्त कर देगी।' सर्वहारा ही पूंजीवादी समाज की मिथ्या चेतना को समाप्त करेगा और वर्गहीन समाज की सही चेतना से जोड़ेगा। मगर 1848 की क्रांति की असफलता ने उन विकासों को गहरा और अचानक धक्का पहुंचाया 'जो उस समय संभाव्य लग रहे थे, जब मार्क्स ने अपनी रचनाएं लिखनी शुरू की थीं। उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध फिर भी प्रमुख रूप से समृद्धि और सुरक्षा का ही था। शताब्दी के मोड़ तक आते आते हमने इतिहास के इस समकालीन युग में संचरण पूरा कर लिया था, जिसमें

तर्कशक्ति का प्रधान कार्य समाज में मानवीय व्यवहार को निर्देशित करने वाले वस्तुगत नियमों का अध्ययन नहीं होता, बल्कि सचेत क्रिया द्वारा समाज और उसमें रहने वाले मनुष्यों को नया रूप देना होता है। मार्क्स में 'वर्ग' यद्यपि उसकी स्पष्ट परिभाषा नहीं दी गई है, कुल मिलाकर एक वस्तुगत धारणा बना रहता है, जिसकी स्थापना आर्थिक व्याख्या द्वारा होती है। लेनिन में 'वर्ग' से हटकर जोर 'पार्टी' पर आ जाता है, जो 'वर्ग' का अग्रगामी दस्ता होता है, और जो 'वर्ग' में आवश्यक वर्गचेतना का विकास करता है। मार्क्स में 'विचारधारा' एक ऋणात्मक संज्ञा है, पूंजीवादी समाज की मिथ्या चेतना का उत्पाद। लेनिन में 'विचारधारा' धनात्मक या निष्पक्ष हो जाती है, एक ऐसा विश्वास जो वर्ग चेतन नेताओं के एक उच्च वर्ग द्वारा वर्गचेतना के लिए उपयुक्त बहुसंख्यक श्रमिक वर्ग में पैदा किया जाता है। वर्गचेतना का निर्माण एक स्वचालित प्रक्रिया नहीं रह जाता है, बल्कि एक ऐसा कार्य हो जाता है, जिसे करना होता है।

हमारे युग के एक और महान विचारक हैं फ्रायड, जिन्होंने तर्क को नया आयाम दिया है। आज भी फ्रायड एक पहेली बने हुए हैं। अपने प्रशिक्षण तथा पृष्ठभूमि से वे 19वीं शताब्दी के एक उदार व्यक्तिवादी थे और उन्होंने बिना टीका-टिप्पणी के व्यक्ति और समाज के बीच मूल विरोध की प्रचलित परंतु भ्रामक अवधारणा को स्वीकार लिया था। मनुष्य को सामाजिक इकाई मानने के बदले फ्रायड ने उसे जैविक इकाई मानकर सामाजिक परिवेश को इतिहास प्रदत्त माना, न कि ऐसा कुछ जो स्वयं मनुष्य द्वारा निरंतर निर्मित होने और रूपांतरित होने की प्रक्रिया के अधीन होता है। वास्तविक सामाजिक समस्याओं को व्यक्ति के दृष्टिकोण से सुलझाने के लिए मार्क्सवादियों ने फ्रायड पर लगातार हमले किए हैं और उन्हें प्रतिक्रियावादी कहकर उनकी निंदा की है। यह आरोप फ्रायड पर तो आंशिक रूप से ही सही उतरना था, परंतु अमरीका के नवफ्रायड-वादियों पर पूरा सही उतरता है। इन नवफ्रायडवादियों के अनुसार कुसंतुलन या अव्यवस्था व्यक्ति में अंतर्निहित है न कि सामाजिक ढांचे में और व्यक्ति को समाज के अनुकूल बनाना ही मनोविज्ञान का आवश्यक कार्य है। फ्रायड के विरुद्ध दूसरा आरोप कि उसने मानवीय कार्य व्यापार में अतार्किकता को प्रसारित किया है, एकदम मिथ्या है और मानवीय व्यवहार में अतार्किकता के तत्व तथा अतार्किकतावाद में फर्क न कर पाने के बेहद भोंड़े भ्रम पर आधारित है। दुर्भाग्य से अंगरेजी भाषी दुनिया में अतार्किकता संप्रदाय विद्यमान है, जो तर्क की शक्ति और उपलब्धियों का अवमूल्यन करता है। यह निराशावाद और अति रूढ़िवाद की मौजूदा लहर है, जिसकी चर्चा मैं बाद में करूंगा। मगर इसका उत्स फ्रायड में नहीं है, जो एक विकल्पहीन और प्राय: आदिम ढंग का तार्किक था। फ्रायड का योगदान यह है कि उसने हमारे ज्ञान की सीमा को एक नया विस्तार दिया और

मानवीय व्यवहार की अचेतन जड़ों को चेतना और तार्किक अन्वेषण के लिए खोलकर सामने रख दिया। यह तर्क के राज्य का एक ही प्रसार था, अपने को समझने और काबू में रखने और इस प्रकार अपने परिवेश को समझने की मनुष्य की क्षमता में यह एक वृद्धि थी और इस तरह यह एक क्रांतिकारी तथा प्रगतिशील उपलब्धि का प्रतिनिधित्व करता है। कहना न होगा कि इस प्रकार फ्रायड मार्क्स के पूरक हैं, न कि उनके विरोधी। फ्रायड इस रूप में समकालीन दुनिया के विचारक हैं, यद्यपि वे स्वयं एक स्थाई तथा अपरिवर्तनीय मानव प्रकृति की अवधारणा से बच नहीं सके हैं, फिर भी वे मानव व्यवहार की जड़ों की और ज्यादा गहरी समझ के औजार हमें देते हैं और इस प्रकार तार्किक प्रक्रिया से उसके सचेत संशोधन के लिए भी हमें सज्जित करते हैं।

इतिहासकार के लिए फ्रायड का दुहरा महत्व है। पहला महत्व यह है कि फ्रायड ने इस पुराने विभ्रम को जड़-मूल से उखाड़ फेंका कि मनुष्य के कार्यों की व्याख्या के लिए उन प्रयोजनों की जानकारी पर्याप्त है, जिनकी पूर्ति के लिए वह कोई कार्य करने को प्रेरित होता है। यह एक नकारात्मक उपलब्धि है यद्यपि इसका भी अपना महत्व है, फिर भी कुछ उत्साही जन जो दावा करते हैं कि इतिहास के महान व्यक्तियों के आचरणों की मनोवैज्ञानिक जांच द्वारा उनके चरित्र पर नया प्रकाश डाला जा सकता है, उस पर संदेह की पूरी गुंजाइश है। मनोवैज्ञानिक की प्रक्रिया का आधार उस रोगी के साथ की गई जिरह होती है, जिसकी जांच की जा रही हो। मृत व्यक्तियों के साथ जिरह करने का कोई रास्ता नहीं है। फ्रायड ने मार्क्स के कार्यों को सुदृढ़ करने में मदद पहुंचाई है और उसने इतिहासकार को उत्साहित किया है कि वह खुद अपनी और इतिहास में अपनी स्थिति की और उन प्रयोजनों, संभवत: गुप्त प्रयोजनों, की जांच करे, जिन्होंने इतिहास की विशेष विषयवस्तु या काल के चुनाव के लिए उसे प्रेरित किया, तथ्यों का चुनाव करने और उनकी व्याख्या की प्रेरणा दी, उस राष्ट्रीय और सामाजिक पृष्ठभूमि की जांच करे जिसने उसके दृष्टिकोण का निर्धारण किया, और भविष्य की उसकी अवधारणा की जांच करे, जो अतीत की उसकी अवधारणा को रूप देती है। जैसाकि मार्क्स और फ्रायड ने लिखा इतिहासकार के पास सोचने की कोई वजह नहीं कि वह एक तटस्थ व्यक्ति है, जो समाज और इतिहास के बाहर अवस्थित है। यह आत्म सचेतनता का युग है और इतिहासकार जान सकता है, उसे जानना चाहिए, कि वह क्या कर रहा है। समकालीन विश्व की ओर संचरण शक्ति और क्रिया का नए क्षेत्रों में विस्तार, अभी पूरा नहीं हुआ है। यह उस क्रांतिकारी परिवर्तन का एक हिस्सा है जिसमें से होकर बीसवीं सदी की दुनिया गुजर रही है। मैं संरचरण काल के कुछ प्रमुख लक्षणों की परीक्षा करना चाहूंगा।

मैं अर्थशास्त्र से शुरू करता हूं। 1914 ई० तक इस विश्वास को कोई चुनौती नहीं मिली थी कि कुछ वस्तुगत आर्थिक नियम होते हैं, जो मनुष्यों और राष्ट्रों के आर्थिक व्यवहार का निर्धारण करते हैं और उनको न मानने के नतीजे संबद्ध मनुष्य और राष्ट्र के लिए बुरे होते हैं। ये ही नियम धंधों का क्रम, मूल्यों का उतार-चढ़ाव, बेरोजगारी आदि का निर्धारण करते हैं। महान आर्थिक मंदी की शुरुआत यानी 1930 तक यही दृष्टिकोण प्रधान था। मगर उसके बाद चीजें तेजी से बदलीं। लोग 'आर्थिक मनुष्य की मृत्यु' की बात करने लगे अर्थात उस मनुष्य की धारणा की समाप्ति हो गई जो आर्थिक नियमों के आधार पर अपने आर्थिक हितों की पूर्ति करता था और उसके बाद से उन्नीसवीं शताब्दी के मुट्ठी भर कूप मंडूकों को छोड़कर कोई भी उस अवधारणा में विश्वास नहीं रखता। आज अर्थ-शास्त्र या तो सैद्धांतिक गणितीय समीकरणों की एक शृंखला रह गया है या इस तथ्य का व्यावहारिक विवेचन कि कैसे कुछ लोग दूसरों को किनारे धकेल कर अपना हित साधन करते हैं। यह परिवर्तन मुख्यतः निजी से बड़े पैमाने पर पूंजी-वाद के संचरण का उत्पाद है। जब तक व्यक्तिगत उद्योगी और साहूकार प्रमुख था, अर्थव्यवस्था किसी के अधिकार में नहीं थी, कोई भी उसे प्रभावित करने में समर्थ नहीं था और निर्वैयक्तिक नियमों तथा प्रक्रियाओं का विभ्रम बना रहा। यहां तक कि अपने सबसे समर्थ दिनों में 'बैंक आफ इंग्लैंड' एक चतुर सट्टेबाज या परिचालक नहीं, बल्कि आर्थिक प्रवृत्तियों का अर्धस्वचालित पंजीयक माना जाता था। परंतु अहस्तक्षेप नीति पर आधारित अर्थव्यवस्था से नियंत्रित अर्थ-व्यवस्था की ओर संचरण के दौरान (चाहे वह नियंत्रित पूंजीवादी अर्थव्यवस्था हो या समाजवादी अर्थव्यवस्था, चाहे प्रबंधक बड़े पूंजीपति द्वारा किया जा रहा हो, जो नाम मात्र को निजी हो, या सरकार द्वारा) यह विभ्रम टूट गया। यह स्पष्ट हो गया कि कुछ लोग किन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्णय लेने का काम कर रहे हैं और ये निर्णय हमारी आर्थिक गतिविधि के नियामक हैं। आज सभी जानते हैं कि तेल या साबुन के दाम मांग और पूर्ति के किसी वस्तुगत नियम के आधार पर नहीं घटते-बढ़ते। हर आदमी जानता है, या सोचता है, उसे पता है कि बेरोजगारी और मंदी आदमी द्वारा लाई जाती है और सरकारें स्वीकार करती हैं, बल्कि दावा करती हैं कि वे इनका इलाज कर सकती हैं। अहस्तक्षेप अर्थव्यवस्था से नियोजन की ओर, अचेत से सचेत की ओर, वस्तुगत आर्थिक नियमों में विश्वास करने से इस विश्वास की ओर, कि मनुष्य स्वयं अपने कर्म से अपनी आर्थिक नियति का स्वामी बन सकता है, आदमी द्वारा संचरण किया गया है। दरअस्ल आर्थिक नीतियां सामाजिक नीतियों में समाहित कर ली गई हैं। 1910 में प्रकाशित कैंब्रिज मार्डन हिस्ट्री के प्रथम खंड से मैं एक उद्धरण देना चाहता हूं। यह बेहद दृष्टिवान मंतव्य एक ऐसे लेखक का है जो किसी भी तरह

मार्क्सवादी नहीं था शायद कभी लेनिन का नाम भी उसने नहीं सुना था :

> सचेत प्रयास द्वारा सामाजिक सुधार की संभावना में विश्वास आज के यूरोपीय मस्तिष्क की प्रमुख धारा है; इसने हमारे उस विश्वास को पीछे छोड़ दिया है कि स्वाधीनता ही हर बुराई का एकमात्र इलाज है···इस विचारधारा की आजकल वैसी ही मान्यता और प्रचलन है, जैसा फ्रांसीसी क्रांति के दिनों में मानवीय अधिकारों का था।[6]

आज, उपरोक्त उद्धरण के लेखन के पचास वर्ष बाद, रूसी क्रांति के चालीस से अधिक ऊपर वर्ष बाद और महान मंदी के तीस वर्ष बाद, यह विश्वास एक आम बात हो गया है और वस्तुगत आर्थिक नियमों के प्रति आत्मसमर्पण से, जो तार्किक होते हुए भी मानवीय नियंत्रण से बाहर था, इस विश्वास की ओर कि आदमी अपनी आर्थिक नियति का, सचेत क्रिया द्वारा नियंत्रण कर सकता है, संचरण, उस दिशा की ओर आदमी के बढ़ने की सूचना है जहां मानवीय कार्यों में तर्क के प्रयोग, तथा अपने को और अपने परिवेश को समझने तथा उस पर स्वामित्व स्थापित करने की आदमी की क्षमता पर विश्वास बढ़ा है और जरूरत पड़ने पर मैं इसे उसी पुराने शब्द 'प्रगति' के नाम से याद करूंगा।

दूसरे क्षेत्रों में इसी प्रकार की प्रक्रियाओं को परखने का यहां मौका नहीं है। जैसा कि हमने देखा कि विज्ञान भी प्रकृति के वस्तुगत नियमों की जांच से कम ही मतलब रखता है और ऐसी कार्यकारी परिकल्पना का ढांचा खड़ा कर रहा है जिससे अपने हितों और परिवेश के रूपांतरण के लिए वह प्राकृतिक शक्तियों को वश में कर सके। और ज्यादा महत्व की बात यह है कि मनुष्य ने तर्क के सचेत प्रयोग द्वारा न केवल अपने परिवेश को बदलना शुरू कर दिया है, बल्कि खुद को भी बदलने लगा है। अठारहवीं शताब्दी के अंत में माल्थस ने एक युग परिवर्तनकारी कृति में जनसंख्या के वस्तुगत नियमों को स्थापित करने का प्रयास किया, जो ऐडम स्मिथ के बाजार के नियमों के समान ही काम करते हैं, जबकि कोई भी इस प्रक्रिया के प्रति सचेत नहीं होता। आज कोई भी इन वस्तुगत नियमों में विश्वास नहीं करता, लेकिन जनसंख्या का नियंत्रण एक तर्कपूर्ण तथा सचेत सामाजिक नीति का अंश बन गया है। हमने अपने समय में मानव जीवन की अवधि को मानवीय प्रयासों द्वारा बढ़ते देखा है और अपनी आबादी की पीढ़ियों के बीच के संतुलन को, बदलते देखा है। हमने ऐसी औषधियों की चर्चा सुनी है, जिन्हें मानवीय व्यवहार को प्रभावित करने के काम में लाया जाता है और ऐसी शल्यचिकित्सा की चर्चा सुनी है जो मानवीय चरित्र को बदलने के उद्देश्य से ही की जाती है। आदमी और समाज दोनों ही बदले हैं, और हमारी आंखों के सामने सचेत मानवीय प्रयासों द्वारा बदले गए हैं। परंतु इन परिवर्तनों में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन संभवत: वे हैं जो प्रत्यायन और शिक्षा के आधुनिक तरीकों से लाए गए हैं। सभी स्तर के प्रशिक्षक

आजकल इस प्रयास में सचेत रूप से लगे हुए हैं कि वे किस प्रकार समाज को एक खास ढांचे में ढालने के काम में योगदान कर सकें और नई पीढ़ी में उक्त समाज के अनुरूप दृष्टिकोण, आस्था तथा विचार पैदा कर सकें। तार्किक रूप से नियोजित सामाजिक नीति का शिक्षा नीति एक आंतरिक अंग है। समाज में मनुष्य के ऊपर प्रयोग के रूप में तर्क का प्राथमिक कार्य केवल जांच करना नहीं है, बल्कि रूपांतर करना भी है और तार्किक प्रक्रिया से अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मामलों के नियंत्रण को उन्नत करने की बढ़ी हुई सचेतनता मुझे बीसवीं शताब्दी की क्रांति का एक बड़ा स्वरूप मालूम पड़ती है।

तर्क का यह विस्तार उस प्रक्रिया का सिर्फ एक भाग है जिसे मैंने अपने पहले के एक भाषण में 'वैयक्तीकरण' कहा है जो वैयक्तिक दक्षताओं, धंधों और अवसरों का बहुमुखीकरण है और एक प्रगतिशील सभ्यता का सहगामी है। संभवतः औद्योगिक क्रांति का सबसे दूरगामी सामाजिक प्रतिफलन ऐसे लोगों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि है, जिन्होंने सोचना और अपनी तर्कशक्ति का उपयोग करना सीखा है। ग्रेट ब्रिटेन में क्रमिक परिवर्तन के प्रति लगाव इतना अधिक है कि कभी कभी बड़ी मुश्किल से कोई गति दीख पड़ती है। एक शताब्दी के बड़े भाग में हम आरंभिक शिक्षा के प्रसार की उपलब्धि में ही मगन थे, और अब भी हम सार्वजनिक उच्च शिक्षा की दिशा में ज्यादा दूर या ज्यादा तेजी से आगे नहीं बढ़े हैं। तब इससे उतना फर्क नहीं पड़ता था, जब हम विश्व का नेतृत्व कर रहे थे। अब इससे फर्क पड़ने लगा है, जबकि हम अपने से तेज गति वाले समाजों द्वारा पीछे छोड़ दिए जा रहे हैं और जबकि हर कहीं तकनीकी परिवर्तनों के कारण गति तेज हो गई है। सामाजिक क्रांति, तकनीकी क्रांति और वैज्ञानिक क्रांति एक ही प्रक्रिया के अंग हैं। वैयक्तीकरण की प्रक्रिया का अगर आप कोई शैक्षिक उदाहरण पाना चाहते हैं तो आप पचास-साठ वर्षों में इतिहास, विज्ञान या विज्ञान की किसी शाखा में हुए बहुमुखी विकास की ओर दृष्टिपात करें और देखें कि वैयक्तिक विशेषज्ञता के कितने अधिक अवसर अब उनमें उपलब्ध हैं। मगर एक दूसरे स्तर में इस प्रक्रिया का कहीं अधिक ध्यान खींचने वाला एक उदाहरण मेरे पास है। प्रायः तीस वर्ष पहले एक उच्चपदस्थ जर्मन सैनिक अधिकारी सोवियत देश गया तो लाल वायुसेना की इमारत के निर्माण से संबद्ध एक रूसी अधिकारी के मुख से उसने ये बातें सुनी थीं।

> हम रूसियों को अभी भी आदिम उपकरणों से काम चलाना पड़ रहा है। हमें मजबूर होकर अपने देश में उपलब्ध उड़ाकों की क्षमता के अनुरूप विमान बनाने पड़ रहे हैं। जिस सीमा तक हम एक नए मनुष्य के विकास में सफल हुए हैं, उसी सीमा तक हमें अपने उपकरणों के तकनीकी विकास को भी पूरा

करना होगा। ये दोनों घटक एक दूसरे के पूरक हैं। आदिम मनुष्य आज की जटिल मशीनों के साथ काम नहीं कर सकता।[7]

आज सिर्फ एक पीढ़ी बाद हमें पता है कि रूसी मशीनें आदिम नहीं रहीं और लाखों रूसी स्त्री पुरुष, जो इन मशीनों का तखमीना करते हैं, निर्माण करते हैं और चलाते हैं वे भी आदिम नहीं रहे। एक इतिहासकार के रूप में मेरी रुचि इसी परवर्ती परिदृश्य में है। उत्पादन के यौक्तिकीरण (बुद्धिसंगत व्याख्या) का अर्थ उससे अधिक महत्वपूर्ण है और वह है मनुष्य का यौक्तिकीरण। समूचे विश्व में आज आदिम मनुष्य जटिल मशीनों का उपयोग करना सीख रहा है, और इस कार्य में वह सोचता और अपनी तर्कबुद्धि को काम में लाना सीख रहा है। यह क्रांति, जिसे आप सामाजिक क्रांति कहेंगे, जो उचित है और मैं जिसे वर्तमान संदर्भ में तर्क का विकास कहूंगा, अभी शुरू हो रही है। परंतु पिछली पीढ़ी की अत्यंत तीव्र तकनीकी प्रगति के समानांतर आने के लिए यह भी अत्यंत तीव्र गति से प्रगति कर रहा है। मुझे यह बीसवीं शताब्दी की क्रांति का एक प्रमुख स्वरूप लगता है।

समकालीन विश्व में तर्क को जो भूमिका दी गई है उसके अस्पष्ट पक्ष को और उसके खतरों को अगर मैं अनदेखा करूं तो कुछ निराशावादी और संशयवादी निश्चय ही मुझे चेतावनी देंगे। अपने एक पूर्वभाषण में मैंने इस बात की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया था कि बढ़ते हुए वैयक्तीकरण का, जिस अर्थ में हम उसे ले रहे हैं, अर्थ यह नहीं है कि उससे नियमबद्धता और समनुरूपता का सामाजिक दबाव कमजोर हो जाएगा। दरअस्ल यह हमारे जटिल आधुनिक समाज का एक विरोधाभास है। शिक्षा, जो वैयक्तिक क्षमता और अवसर के प्रसार का एक शक्तिशाली और आवश्यक औजार है और इस प्रकार वैयक्तिकरण को बढ़ाने वाली है, सामाजिकता समनुरूपता को बढ़ाने वाले लोगों के हाथ में एक असरदार औजार की तरह भी काम करती है। अक्सर हमें ज्यादा जिम्मेदार रेडियो और टेलीविजन प्रसारणों और समाचार पत्रों के लिए जो दलीलें सुनाई पड़ती हैं, उनका उद्देश्य है किसी ऐसी नकारात्मक सामाजिक प्रवृत्ति का विरोध जो निंदनीय है। परंतु ये दलीलें बहुत शीघ्र ही वांछित रुचि और विचारधारा के प्रचार के लिए इन सार्वजनिक और शक्तिशाली प्रचार साधनों के उपयोग की दलीलों का रूप ले लेती हैं। वांछनीयता का मानदंड होती है समाज की स्वीकृत रुचियां और मान्यताएं। ये आंदोलन इनके संचालकों के हाथों में, किसी वांछित दिशा में व्यक्तियों को प्रेरित करके; पूरे समाज को बदलने की सचेत और तर्कसम्मत प्रक्रियाएं हैं। इन खतरों के दूसरे उदाहरण हैं व्यावसायिक विज्ञापनवाणी और राजनीतिक प्रचार (प्रोपेगेंडा)। ये दोनों भूमिकाएं अक्सर दुगनी की जाती हैं, अमरीका में खुलेआम और ग्रेट ब्रिटेन में कुछ अधिक संकोच के साथ। राजनीतिक दल और प्रत्याशी चुनाव में जीतने के लिए व्यावसायिक विज्ञापन संस्थाओं की

मदद लेते हैं। ये दोनों कार्य प्रणालियां औपचारिक रूप से अलग दीखती हुई भी बेहद अनुरूप हैं। बड़े राजनीतिक दलों के व्यावसायिक विज्ञापन विशेषज्ञ काफी बुद्धिमान लोग हैं, जो अपने कार्य में तर्कशक्ति का भरपूर प्रयोग करते हैं। जैसा कि अन्य उदाहरणों की परीक्षा करके हमने देखा कि तर्क का प्रयोग केवल अनुसंधान के लिए या स्थिर रूप में नहीं, बल्कि रचनात्मक और गतिशील रूप से किया जाता है। व्यावसायिक विज्ञापन विशेषज्ञ और प्रचार व्यवस्थापक केवल विद्यमान तथ्यों पर निर्भर नहीं होते। उनकी दिलचस्पी सिर्फ इस बात में नहीं होती कि उपभोक्ता क्या विश्वास करता है या कि घटनाओं को अंत उत्पाद के रूप में वह कैसे लेता है बल्कि इस बात में भी होती है कि उपभोक्ता या मतदाता, अगर उसको दक्षता से हाथ में लिया जाए तो क्या चाहेगा या विश्वास करने के लिए प्रस्तुत हो सकेगा। इसके अलावा जनमनोविज्ञान के अध्ययन से उन्होंने यह जान लिया है कि अपने दृष्टिकोण को मनवाने का सबसे तेज तरीका यह है कि खरीदार या मतदाता के भीतर स्थित अतार्किक तत्व को आकर्षित किया जाए। इस प्रकार हमारे सामने जो तस्वीर उभरती है वह यों है कि अत्यंत विकसित तार्किक प्रक्रियों के माध्यम से व्यावसायिक विज्ञापन विशेषज्ञों और राजनीतिक दलों के नेताओं का उच्च वर्ग जनसाधारण की अतार्किकता को समझते हुए और उसका फायदा उठाते हुए अपना हितसाधन कर रहा है। मूलतः समर्थन की यह मांग तर्क से नहीं है, बल्कि मूलतः उस प्रणाली का इस्तेमाल किया जाता है जिसे आस्कर वाइल्ड 'विचारशक्ति के नीचे आघात करना' कहता है। खतरे के अवमूल्यन का आरोप मुझ पर न लगे, इसलिए मैंने यह तस्वीर आवश्यकता से अधिक बड़ी बनाई है।[8] मगर यह तस्वीर मोटे तौर पर सही है और दूसरे क्षेत्रों में भी उपयोगी सिद्ध हो सकती है। जनमत को संगठित और नियंत्रित करने के लिए प्रत्येक समाज में शासक वर्ग कमोबेश दबाव के हथकंडे अपनाता है। यह तरीका कुछ अन्य तरीकों से बुरा जान पड़ता है क्योंकि इसमें तर्क का गलत इस्तेमाल किया जाता है।

इस गंभीर और ठोस आधार वाले अभियोग पत्र के उत्तर में मेरे पास दो दलीलें हैं। पहली दलील यह है कि इतिहास के पूरे दौर में जो भी अनुसंधान, जो भी नए तरीके और नई तकनीक आदमी को उपलब्ध हुई हैं उनके नकारात्मक और सकारात्मक दोनों ही पक्ष ही हैं। उसका मूल्य किसी न किसी को हमेशा चुकाना पड़ा है। मुद्रण आविष्कार के पता नहीं कितने दिनों बाद तक यह आलोचना की जाती थी कि इससे गलत मंतव्यों का प्रचार होता है। यह आज का आम रोना है कि मोटरकारों के आविष्कार से सड़क दुर्घटनाओं की संख्या बेहद बढ़ गई है और अणुशक्ति को निर्मुक्त करने के लिए किए गए अपने अनुसंधानों की भी कुछ वैज्ञानिक इसलिए निंदा करने लगे हैं कि उसका प्रयोग बेहद विनाशकारी हो

सकता है और हुआ है। नए आविष्कारों और वैज्ञानिक अनुसंधानों पर रोक लगाने में ये या ऐसी दलीलें न अतीत में सफल हुई हैं और न भविष्य में ही होंगी। मास प्रोपेगेंडा (जन प्रचार) की तकनीक और क्षमता के विषय में जो हमने सीखा है, उसे हम भुला नहीं सकते हैं। आज जैसे कि यह संभव नहीं है कि हम घोड़ागाड़ी के या अहस्तक्षेप पूंजीवाद युग में वापस चले जाएं उसी प्रकार यह भी संभव नहीं है कि हम लोक द्वारा प्रतिपादित उदारवादी सिद्धांत की ओर वापस चले जाएं, जो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ग्रेट ब्रिटेन में आंशिक रूप में संभव हो सका था। मगर इसका असली उत्तर यह है कि ये बुराइयां अपने साथ ही उसका उत्तर भी लिए रहती हैं। आधुनिक समाज में तर्क की भूमिका की निंदा करने या अतार्किकता के मत के प्रचार से इस समस्या का समाधान नहीं होगा, बल्कि तर्क की भूमिका के बारे में नीचे और ऊपर से बढ़ती हुई सचेतनता में ही इसका समाधान निहित है। ऐसे समय में जबकि हमारी तकनीकी और वैज्ञानिक क्रांति ने समाज के प्रत्येक स्तर पर तर्क के अधिकाधिक प्रयोग को हमारे ऊपर थोपना शुरू किया, हमारा यह सोचना कपोल कल्पना नहीं है। इतिहास की प्रगति के अन्य दौरों की तरह इस दौर की भी कुछ कीमत है, जिसे चुकाना पड़ेगा। कुछ हानियां हैं जिन्हें सहना होगा और कुछ खतरे हैं जिनका सामना करना पड़ेगा। फिर भी संशयवादियों, रहस्यवादियों और प्रलय के मसीहाओं के बावजूद, खास तौर से उन देशों के जिनकी पहले जैसी ऊंची स्थिति नहीं रह गई है, मुझे यह स्वीकार करने में कोई लज्जा नहीं है कि इतिहास में प्रगति का वह अभूतपूर्व उदाहरण है। यह हमारे समय का सबसे ध्यानाकर्षक और क्रांतिकारी पक्ष है।

विश्व का परिवर्तित स्वरूप उस प्रगतिशील क्रांति का दूसरा पक्ष है जिससे हम गुजर रहे हैं। पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी का महान युग जिसमें मध्ययुगीन विश्व टूट-फूटकर बिखर गया और आधुनिक विश्व की नींव पड़ी, वह युग था, जब नए महाद्वीपों की खोज हुई थी और विश्व का गुरुत्वाकर्षण केंद्र भूमध्य सागर से अतलांत में स्थानांतरित हो गया था। यहां तक कि फ्रांसीसी क्रांति जैसे छोटे-मोटे उथल-पुथल का भी भौगोलिक परिणाम इस तथ्य में निहित था कि पुरानी दुनिया के अवशेषों के लिए नई दुनिया की कीमत चुकानी पड़ रही थी। परंतु सोलहवीं शताब्दी के बाद से बीसवीं शताब्दी तक क्रांति के द्वारा लाए गए परिवर्तन किसी भी और घटना से अधिक व्यापक हैं। प्राय: 400 वर्ष बाद विश्व का गुरुत्वाकर्षण केंद्र निश्चित रूप से पश्चिमी यूरोप से हट गया है। अंगरेजी भाषी दुनिया के बाहरी हिस्सों सहित पश्चिमी यूरोप आज उत्तरी अमरीका महाद्वीप का अधीनस्थ क्षेत्र हो गया है या आप चाहें तो इसे एक समूह कह सकते हैं, जिसके बिजलीघर या शक्ति केंद्र और कंट्रोल टावर का काम संयुक्त राज्य अमरीका कर रहा है। सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन केवल यही नहीं है। यह किसी भी तरह स्पष्ट नहीं रहा

कि विश्व का गुरुत्वाकर्षण केंद्र अब पश्चिम यूरोप के साथ अंगरेजी भाषी दुनिया में स्थित है, और काफी दिनों तक वहीं रहेगा, बल्कि अब लगने लगा है कि पूर्वी यूरोप और एशिया का विशाल भूखंड, जिसका विस्तार अफ्रीका तक है, विश्व के मामलों में निर्णायक है। आजकल 'अपरिवर्तनीय' पूर्व की कथा बेहद पुरानी पड़ गई है। वर्तमान शताब्दी में एशिया में क्या घटित हुआ, इस पर भी आइए एक नजर डाल लें। 1902 में हुई आंग्ल जापानी संधि से कहानी शुरू होती है। यूरोपीय महान शक्तियों की लक्ष्मण रेखा के अंदर यह एशियाई देश का प्रथम प्रवेश था। इसे एक संयोग मानना चाहिए कि जापान ने रूस को चुनौती देकर और हराकर अपनी पदोन्नति का बिगुल बजाया और इस तरह महान बीसवीं शताब्दी की क्रांति की पहली चिंगारी सुलगाई। 1789 और 1848 की फ्रांसीसी क्रांतियों की नकलें यूरोप में हुई थीं, परंतु 1905 की प्रथम रूसी क्रांति की कोई प्रतिक्रिया यूरोप में नहीं हुई बल्कि उसकी प्रतिक्रिया एशिया पर हुई और बाद के कुछ ही वर्षों में पर्सिया, तुर्की और चीन में क्रांतियां हुईं। वस्तुत: प्रथम विश्वयुद्ध एक विश्वयुद्ध नहीं था, बल्कि अगर यूरोप को हम एक इकाई मान लें तो यह यूरोपीय गृहयुद्ध था, जिसके विश्वव्यापी परिणाम उस समय के हुए, जिसमें बहुतेरे एशियाई देशों में औद्योगिक विकास, चीन में विदेश विरोध और भारत तथा अरब देशों में राष्ट्रीयता का विकास शामिल है। 1917 की रूसी क्रांति ने एक निर्णायक तथा अंतिम धक्का दिया। यहां एक विशेष बात यह थी कि इस क्रांति के नेता व्यर्थ ही इसकी प्रति-ध्वनि की उम्मीद में यूरोप की ओर निगाहें लगाए थे, जो अंत में उन्हें एशिया से मिली। यूरोपीय 'स्थिर' हो गया था, एशिया ने कदम आगे बढ़ा दिए थे। इस परिचित कहानी को वर्तमान काल तक कहने की जरूरत मैं महसूस नहीं करता। अब भी इतिहासकार इस स्थिति में नहीं हैं कि एशियाई और अफ्रीकी क्रांति के क्षेत्र और महत्व का मूल्यांकन करें। परंतु आधुनिक तकनीकी तथा औद्योगिक प्रक्रियाओं, शिक्षा और राजनीतिक जागरण के आरंभ से एशिया और अफ्रीका की करोड़ों करोड़ जनता उन महाद्वीपों का चेहरा तेजी से बदल रही है। मैं भविष्य में नहीं झांक सकता, मगर मुझे किसी ऐसे मानदंड का ज्ञान नहीं है जिसके आधार पर विश्व इतिहास के परिप्रेक्ष्य में इसे हम प्रगतिशील विकास के अलावा कुछ कह सकें। इन घटनाओं के फलस्वरूप विश्व के स्वरूप में जो परिवर्तन आए हैं उनसे विश्व मामलों में इस देश का (ग्रेट ब्रिटेन) और संभवत: सारे अंगरेजी भाषी देशों का वजन कम हुआ है। मगर सापेक्ष पतन, पूर्ण पतन नहीं होता और मुझे जो चीज परेशान करती है वह एशियाई अफ्रीकी देशों की प्रगति की दौड़ नहीं, बल्कि इस देश के और दूसरे देशों के भी शासक दलों की इन घटनाओं की ओर से आंखें मूंद लेने की प्रवृत्ति और उन देशों के प्रति अविश्वासपूर्ण अवज्ञा और भद्र विनम्रता के बीच डालता रुख और अतीत के प्रति पंगु कर देने वाली मोहाविष्टता की

प्रवृत्ति। मैंने जिसे बीसवीं शताब्दी क्रांति में तर्क का विस्तार कहा है उसका इतिहासकार के लिए विशेष महत्व होता है क्योंकि तर्क के विस्तार का अर्थ है, सारत: इतिहास में ऐसी जातियों और महाद्वीपों के दलों और वर्गों का उत्थान जो अभी तक उसके बाहर थे। मैंने अपने पहले भाषण में बताया था कि मध्यकालीन समाज को धर्म के चश्मे से देखने की एक मध्यकालीन इतिहासकार की प्रवृत्ति उनके स्रोतों के विशेष चरित्र के कारण थी। मैं इस व्याख्या को थोड़ा और विस्तार दूंगा। मैं समझता हूं, हालांकि मेरे कथन में थोड़ी अत्युक्ति हो सकती है, यह कहना सही है कि 'ईसाई चर्च' मध्य युग का एकमात्र तार्किक संस्थान था।[9] एकमात्र तार्किक संस्थान होने के नाते यह एकमात्र ऐतिहासिक संस्था था। और इसीलिए एकमात्र यही विकास की उस तार्किक प्रक्रिया के वशीभूत था, जिसको इतिहासकार समझ सकता था। एक मिलाजुला समाज चर्च द्वारा निर्मित तथा संगठित हुआ और इसका अपना तार्किक जीवन नहीं था। प्रागैतिहासिक काल की तरह जनसाधारण प्रकृति के अधीन थे न कि इतिहास के। आधुनिक इतिहास वहां से शुरू होता है जहां से ज्यादा से ज्यादा लोग सामाजिक तथा राजनीतिक सचेतनता प्राप्त करने लगे; अपने अपने दलों की ऐतिहासिक इकाई के प्रति जिसका एक अतीत और एक भविष्य था, सजग होने लगे और इस प्रकार पूरी तौर से इतिहास में प्रविष्ट हुए। ज्यादा से ज्यादा पिछले 200 वर्षों के अंदर ही, न केवल पिछड़े हुए बल्कि मुट्ठीभर प्रगतिशील देशों में भी, सामाजिक, राजनीतिक तथा ऐतिहासिक चेतना का बहुसंख्यक जनता में संचार होने लगा है। सिर्फ वर्तमान समय में हमारे लिए पहली बार एक ऐसी दुनिया की कल्पना करना संभव हुआ है जिसमें रहने वाले लोग इतिहास के अंग बन चुके हैं और अब वे केवल उपनिवेशी प्रशासक व मानवशास्त्री की चिंता के विषय नहीं रह गए हैं, बल्कि इतिहासकार की चिंता के भी विषय बन चुके हैं।

इतिहास की हमारी धारणा में यह एक क्रांति है। अठारहवीं शताब्दी तक इतिहास फिर भी उच्च वर्गों का इतिहास था। उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश इतिहासकार हिचक के साथ रुक रुककर इतिहास के एक ऐसे दृष्टिकोण का समर्थन करने लगे थे, जो एक पूरे राष्ट्रीय समुदाय का इतिहास था। जे० आर० ग्रीन जिसे पादचारी का इतिहासकार कहा जाता है, 'हिस्ट्री आफ इंग्लिश पीपुल' लिखकर प्रशंसित हुआ। बीसवीं शताब्दी का प्रत्येक इतिहासकार इस दृष्टिकोण का मौखिक समर्थन करता है, हालांकि उनके वचन से उनका कर्म पीछे रह गया है। मैं इन कमियों की अधिक चर्चा नहीं करूंगा, क्योंकि इतिहासकार के रूप में इस देश के बाहर और पश्चिमी यूरोप के बाहर फैलते हुए इतिहास के सीमांतों का ऐतिहासिक विश्लेषण न कर पाने की हमारी असफलता में मेरी ज्यादा दिलचस्पी है। 1896 की अपनी रिपोर्ट में ऐक्टन विश्व इतिहास के बारे में लिखते हैं कि विश्व इतिहास 'सभी देशों के संयुक्त इतिहास से भिन्न है।' वे आगे कहते हैं: 'यह एक ऐसे क्रम

में चलता है, जिसको सभी देश अपना योगदान देते हैं। उनका इतिहास उनके अपने लिए नहीं लिखा जाएगा बल्कि जिस कोटि का या जिस अवधि से वे मानवता की समृद्धि में योगदान दे रहे होते हैं उसी के अनुरूप एक उच्चतर श्रृंखला में लिखा जाएगा।'[10]

ऐक्टन के लिए यह सोचना स्वाभाविक था कि जिस रूप में विश्व इतिहास की वह कल्पना करता था, उसका उस रूप में लेखन किसी भी गंभीर इतिहासकार का दायित्व है। इस अर्थ में विश्व इतिहास के दृष्टिकोण की सुविधा के लिए हम इस समय क्या कर रहे हैं ?

इन भाषणों में मैं इस विश्वविद्यालय में इतिहास के अध्ययन की चर्चा नहीं करना चाहता था, मगर मैं जो कहना चाहता था उसका यह इतना बेहतरीन उदाहरण है कि अगर मैं इस विषय को यों ही छोड़ दूं तो यह मेरे लिए एक कायरतापूर्ण बात होगी। पिछले चालीस वर्षों में हमने अपने पाठ्यक्रम में संयुक्त राज्य अमरीका के इतिहास के लिए काफी बड़ी जगह बनाई है। यह एक महत्वपूर्ण प्रगति है। मगर इसमें अंगरेजी इतिहास की संकीर्णता को मजबूत करने का खतरा भी शामिल है, जो पहले से ही हमारे पाठ्यक्रम पर बोझ बना हुआ है और इस प्रकार अंगरेजीभाषी दुनिया की समान रूप से खतरनाक और दुरंगी संकीर्णता से हम इस बोझ को बढ़ाएंगे ही। अंगरेजी भाषी दुनिया का पिछले 400 वर्षों का इतिहास का एक महान युग रहा है। परंतु विश्व इतिहास के केंद्र के रूप में इसकी चर्चा और बाकी सब कुछ को परिधि पर स्थित मान लेना परिदृश्य को विकृत कर देखना है, इस तरह की लोकप्रिय विकृतियों का सुधार करना विश्वविद्यालय का दायित्व है। इस विश्वविद्यालय का आधुनिक इतिहास विभाग अपने इस कर्तव्यपालन में असमर्थ सिद्ध हो रहा। निश्चय ही यह गलत है कि एक बड़े विश्वविद्यालय से इतिहास में 'आनर्स' डिग्री की परीक्षा में बिना किसी आधुनिक भाषा (अंगरेजी को छोड़कर) के पर्याप्त ज्ञान के विद्यार्थी को बैठने दिया जाता है। आक्सफोर्ड में पुराने और समादृत दर्शन विभाग ने जब निर्णय लिया कि रोजमर्रा की सीधी-सादी अंगरेजी से उनका काम चल जाएगा तो उनके साथ जो हुआ उससे हमें सबक लेना चाहिए। निश्चय ही यह गलत है कि पाठ्य पुस्तक अलग हटकर यूरोप महाद्वीप के किसी देश के आधुनिक इतिहास का अध्ययन करने की सुविधा विद्यार्थी को न दी जाय। उस विद्यार्थी को जो एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीका का कुछ ज्ञान रखता है, अपने ज्ञान के प्रदर्शन का मौका 'यूरोप का विस्तार' विषयक उन्नीसवीं शताब्दी तक सीमित पर्चे में नहीं मिल पाएगा। दुर्भाग्यवश पर्चे का शीर्षक उसकी विषयवस्तु से हुबहू मेल खाता है। उन देशों के बारे में भी जैसे चीन और पर्सिया, जिनके पास अच्छी तरह लिखा महत्वपूर्ण इतिहास है, विद्यार्थी को कुछ जानने की जरूरत नहीं है, सिवाय इसके कि जब यूरोपियों ने उन पर

अधिकार जमाने की कोशिश की तो क्या हुआ ? मुझे बताया गया है कि इस विश्वविद्यालय में रूस, चीन और पर्सिया के इतिहास पर भाषण होते हैं, मगर इस विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग शिक्षकों द्वारा नहीं। पांच वर्ष पूर्व अपने उद्घाटन भाषण में चीनी भाषा के प्रोफेसर ने जो मंतव्य दिया था कि 'चीन को विश्व-इतिहास की मुख्य धारा के बाहर नहीं रखा जा सकता'[1] उसे कैंब्रिज के इतिहासकारों ने एकदम महत्व नहीं दिया। पिछले दशक में कैंब्रिज में प्रस्तुत की गई सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कृति पूरी तौर से इतिहास विभाग के बाहर और बिना उसकी किसी मदद के लिखी गई। मैं डा० नीडहैम की पुस्तक 'साइंस ऐंड सिविलाइजेशन इन चाइना' की चर्चा कर रहा हूं। यह एक संतोष का विषय है। मुझे इन घरेलू घावों को सार्वजनिक रूप से पेश नहीं करना चाहिए था, अगर मेरा यह विश्वास न होता कि यह प्रवृत्ति अन्य ब्रिटिश विश्वविद्यालयों में भी विद्यमान है और आज बीसवीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटिश बुद्धिजीवी आमतौर से इस प्रवृत्ति के शिकार हैं। पुरानी विक्टोरियायुगीन कहावतें जैसे 'नहर में तूफान' या 'कटा हुआ महाद्वीप' आज भी इस देश पर सीमित अर्थों में सटीक बैठती हैं और हमारी परेशानी का वायस बनती हैं। एक बार फिर बाहर की दुनिया में तूफान उठ रहे हैं और ऐसे वक्त में हम अंगरेजी भाषाभाषी देशों के लोग एक दूसरे के सिर से सिर जोड़ कर अपनी रोजमर्रा की मामूली अंगरेजी में कहते हैं कि हमारी सभ्यता के वरदानों और उपलब्धियों से दूसरे देशों के लोग महरूम हो रहे हैं क्योंकि उनका व्यवहार हमारे अनुरूप नहीं है और कभी कभी ऐसा लगता है कि हम खुद दूसरों को समझ पाने की अपनी असमर्थता और अनिच्छा के कारण खुद को उस उथल-पुथल और गतिविधि से, जो हमारे चारों ओर हो रही है, काटकर अलग किए हुए हैं।

अपने पहले भाषण के आरंभिक वाक्य में मैंने आपका ध्यान इस दृष्टिकोण की ओर आकर्षित किया था जो बीसवीं शताब्दी के मध्य के वर्षों को उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों से अलग करता है। उपसंहार के रूप में मैं इस विरोध की विस्तार से चर्चा करना चाहूंगा और इस संदर्भ में यदि मैं 'लिबरल' (उदारवादी) और 'कंजर्वेटिव' (पुराणपंथी) शब्दों का इस्तेमाल करूं तो उन्हें ब्रिटिश राजनीतिक दलों के लेबुल के रूप में न लिया जाए। जब ऐक्टन ने प्रगति की चर्चा की थी तो उसके विचार 'क्रमिकवाद' के लोकप्रिय ब्रिटिश धारणा के अनुरूप नहीं थे। 1887 में लिखे अपने एक पत्र में उन्होंने 'क्रांति या जैसा हम कह सकते हैं, उदारतावाद' जैसे एक विशिष्ट मुहावरे का प्रयोग किया था। दस वर्ष बाद अपने एक भाषण में उन्होंने लिखा : 'आधुनिक प्रगति का तरीका क्रांति है' और एक दूसरे भाषण में उन्होंने 'सामान्य धारणाओं के विकास, जिसे हम क्रांति कहते हैं' की चर्चा की। उनकी एक अप्रकाशित हस्तलिखित टिप्पणी में इसको खुलासा किया हुआ

है : 'ह्विग समझौते के माध्यम से शासन करता था; लिबरल ने विचारों का शासन आरंभ किया है।'[12] ऐक्टन का विश्वास था कि 'विचारों के शासन' का अर्थ है उदारतावाद और उदारतावाद का अर्थ है क्रांति। ऐक्टन के जीवनकाल में अभी सामाजिक परिवर्तन के प्रेरक रूप में उदारतावाद की शक्ति समाप्त नहीं हुई थी। हमारे दिनों में उदारतावाद का जो कुछ बचा रह गया है, वह हर कहीं समाज में संकीर्णता का एक पक्ष बन गया है। आज ऐक्टन के विचारों की ओर लौटने की बात अर्थहीन है। मगर इतिहासकार का दायित्व है पहले ऐक्टन को उसकी जमीन पर स्थापित करना; दूसरे, समकालीन विचारों से उसके मत वैभिन्य को स्पष्ट करना; तीसरे, इस बात की जांच करना कि ऐक्टन के विचारों में ऐसा क्या है जो आज भी मान्य है। ऐक्टन की पीढ़ी, निस्संदेह, अपने अतिशय आत्मविश्वास और आशावादिता की शिकार थी और उसने ठीक ठीक समझा नहीं कि उसने अपनी आस्था जिस ढांचे पर आधारित की है यह खुद ही दूसरी बातों पर निर्भर है। मगर इसमें दो तत्व थे, जिनकी हमें आज भी बड़ी जरूरत है और वह हैं : इतिहास में प्रगति की भावना को परिवर्तन से जोड़ना और जटिलताओं को समझने के लिए तर्क को अपना मार्गदर्शक बनाना।

अब आइए हम छठे दशक (बीसवीं शताब्दी) की कुछ आवाजें सुनें। अपने एक पहले के भाषण में मैंने सर लेविस नेमिएर के संतोष की चर्चा की है कि जब 'ठोस समस्याओं', के 'कारगर समाधान' ढूंढे जा रहे हों तब दोनों दल कार्यक्रमों और आदर्शों को भूल जाते हैं' और इसे सर नेमिएर 'राष्ट्रीय परिपक्वता'[13] का लक्षण मानते हैं। मनुष्य की जीवन की अवधि के साथ राष्ट्रों के विकास की तुलना को मैं पसंद नहीं करता और अगर इस तरह की उपमा को स्वीकार भी कर लिया जाए तो मैं पूछना चाहूंगा कि जब कोई देश परिपक्ता के स्तर को पार कर जाता है तो क्या होता है? मगर मुझे जो चीज अच्छी लगती है, वह यह है कि व्यावहारिक और ठोस के साथ, जिसकी प्रशंसा की गई है, कार्यक्रमों और आदर्शों का, जिनकी निंदा की गई है, परस्पर विरोध स्पष्ट दिखाया गया है। आदर्शवादी सिद्धांतवादिता के मुकाबले में व्यावहारिक कार्यों को ऊंचा स्थान देना संकीर्णतावाद का प्रमुख लक्षण है। नेमिएर के विचारों में यह अठारहवीं शताब्दी की आवाज का प्रतिनिधित्व करता है, जार्ज तृतीय के सिंहासनारूढ़ होने के समय के इंग्लैंड का प्रतिनिधित्व करता है, और ऐक्टन के विचारों के शासन और क्रांति जिनकी शुरुआत होने ही वाली थी उनके खिलाफ अपना विरोध प्रकट करता है। मगर वही पूरा पूरा संकीर्णतावाद जब पूरा पूरा अनुभववाद की शक्ल लेकर आया तो हमारे युग में बेहद लोकप्रिय हो गया। प्रो० ट्रेवर रोपर की इस टिप्पणी में वह अपने अत्यंत लोकप्रिय रूप में देखा जा सकता है, कि : 'जब उग्रवादी चीखते हैं कि जीत निश्चय ही उन्हीं की होगी, तो समझदार संकीर्णतावादी उनकी नाक पर घूंसा

जमा कर देते हैं।'[14] प्रो० ओकशाट हमें इस फैशनेबुल अनुभववाद का एक और सूक्ष्म उदाहरण देते हैं। वे कहते हैं कि अपने राजनीतिक संस्थाओं में हम 'एक सीमाहीन और अतल समुद्र में नाव चलाते हैं, 'जहां' न तो यात्रा का कोई आरंभिक स्थान है और न ही कोई सुनिश्चित गंतव्य स्थान है।'[15] हमें नए लेखकों की सूची पढ़ने की जरूरत नहीं महसूस हो रही है, जिन्होंने 'राजनीतिक अव्यावहारिकतावाद' और 'मसीहावाद' का विरोध किया है। ये मुहावरे समाज के भविष्य के संबंध में दूरगामी उग्रवादी विचारों को व्यक्त करने के लिए उपयोग में आए हैं। और न ही मैं संयुक्त राज्य अमरीका की हाल की प्रवृत्तियों की ही चर्चा करूंगा। वहां के इतिहासकारों और राजनीतिक सैद्धांतिकों में ग्रेट ब्रिटेन के अपने समानधर्मियों की अपेक्षा मुगालते कम हैं और उन्होंने खुलेआम संकीर्णतावाद को अपना समर्थन दिया है। हारवर्ड के प्रो० सैमुएल मारिसन के सिर्फ एक मंतव्य को उद्धृत करूंगा। प्रो० मारिसन अमरीका के संकीर्णतावादी इतिहासकारों में सबसे प्रसिद्ध और सबसे अधिक मध्यममार्गी हैं। दिसंबर, 1950 में अमेरिकन हिस्टोरिकल एसोसिएशन को संबोधित करते हुए अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने विचार व्यक्त किया था कि 'जेफरसन जैकसन एफ० डी० रूजवेल्ट नीति' को उलटने का समय आ गया है। साथ ही उन्होंने अमरीका का एक ऐसा इतिहास लिखने की वकालत की थी जो 'एक संतुलित संकीर्णतावादी दृष्टिकोण से लिखा गया हो।'[16]

ग्रेट ब्रिटेन में प्रो० पापर ने अपने सजग संकीर्णतावादी दृष्टिकोण को अत्यंत स्पष्ट और समझौताविहीन रूप में सामने रखा है। नेमिएर द्वारा किए गए 'कार्यक्रमों और आदर्शों' के विरोध को उन्होंने दुहराया है और ऐसी नीतियों पर आक्रमण किया है जिनका तथाकथित उद्देश्य एक निश्चित योजना के अनुसार 'समूचे समाज' को पुनर्व्यवस्थित करना है। इसके विपरीत उन्होंने 'टुकड़ों में सामाजिक इंजीनियरी' करना प्रशंसा योग्य माना है और स्पष्टतः ही वे 'टुकड़ों में मरम्मत' और 'घपलेबाजी'[17] के आरोपों से पीछे नहीं हटे हैं। दरअस्ल एक मुद्दे पर मुझे प्रो० पापर की प्रशंसा करनी चाहिए। वे तर्क के प्रबल समर्थक हैं और अतीत या वर्तमान अतार्किकताओं के साथ उनका कुछ भी लेना-देना नहीं है। परंतु अगर हम 'टुकड़ों में सामाजिक इंजीनियरी' के नुस्खे की जांच करें तो हम देखते हैं कि तर्क को जो भूमिका मिली है, वह नगण्य है। यद्यपि 'टुकड़ों में इंजीनियरी' की उनकी व्याख्या बहुत सूक्ष्म नहीं है, हमें खासतौर पर बताया गया है कि 'परिणामों' की आलोचना इसमें से निकाल दी गई है और अपने कानूनी कार्यों के बारे में अर्थात 'सांविधानिक सुधार' और 'आमदनी के समीकरण की व्यापकता स्थिति' के बारे में उन्होंने जो सतर्क उदाहरण दिए हैं उससे स्पष्ट हो जाता है उन्हें हमारे वर्तमान समाज की मान्यताओं के अंतर्गत ही कार्य करना है।[18] प्रो० पापर की स्कीम में 'तर्क' को वही स्थान प्राप्त है जो ब्रिटिश असैनिक

को, जिसको अधिकार होता है कि वह सत्ताप्राप्त सरकार की नीतियों क करे और उनके बेहतर ढंग से लागू करने के व्यावहारिक सुझाव भी दे, मगर यह अधिकार नहीं होता कि वह उन नीतियों पर प्रश्नचिन्ह लगाए और उनकी मूलभूत परिकल्पनाओं और अंतिम उद्देश्यों पर संदेह प्रकट करे। उसका काम लाभप्रद होता है, अपने वक्त में मैं भी एक असैनिक अधिकारी था। परंतु तर्क को मौजूदा व्यवस्था की मान्यताओं के अधीन करना मुझे अंतिम रूप से अस्वीकार्य लगता है। जब ऐक्टन ने अपने समीकरण 'क्रांति = उदारतावाद = तर्क का राज्य' की स्थापना की थी तो उसने तर्क की उपरोक्त कल्पना नहीं की थी। चाहे विज्ञान में हो या इतिहास में या समाज में, प्रगति मुख्यत: उन्हीं मनुष्यों के द्वारा लाई गई है जिन्होंने बहादुरी के साथ एक खास व्यवस्था में छोटे-मोटे सुधारों तक खुद को सीमित करने से इनकार कर दिया था और तर्क के नाम पर जो कार्य-प्रणाली व्यवहार में थी और उसके आधारस्वरूप जो सुनिश्चित या छिपी हुई परिकल्पनाएं थीं, उन्हें तर्क के ही नाम पर मूलभूत चुनौती दी। मैं ऐसे वक्त का इंतजार कर रहा हूं जब अंगरेजी भाषी दुनिया के इतिहासकार, समाजशास्त्री और राजनीतिशास्त्री उक्त कार्य के लिए साहस बटोर सकेंगे।

वैसे अंगरेजी भाषी दुनिया के बुद्धिजीवियों और राजनीतिक विचारकों में तर्क के प्रति धूमिल होती हुई आस्था मुझे उतना विचलित नहीं करती, जितना विश्व की निरंतर गतिशीलता की भावना के अहसास की कमी। पहली नजर में यह विरोधाभाषी लगता है, क्योंकि हमारे आसपास के परिवर्तनों के संबंध में शायद ही पहले कभी इतनी बकवास हुई हो। मगर ध्यान देने की बात है कि परिवर्तन को अब उपलब्धि, अवसर और प्रगति के रूप में नहीं लिया जाता, बल्कि डर की चीज माना जाता है। जब हमारे राजनीतिक और आर्थिक धुरंधर उपदेश देते हैं तो वे हमें इस चेतावनी के अलावा और कुछ नहीं दे पाते कि हमें उग्र परिवर्तनवादी और दूरगामी विचारों पर संदेह करना चाहिए, क्रांति का आभास देने वाली हर चीज से दूर रहना चाहिए, और हमें जितना धीमे और सतर्कतापूर्वक संभव हो आगे बढ़ना चाहिए, अगर उसे आगे बढ़ना कहा जा सके। ऐसे वक्त में जबकि दुनिया पिछले 400 वर्षों की अवधि में सबसे अधिक तेजी के साथ और उग्र रूप से बदल रही है, उपरोक्त बातें करना एक अजीब अंधापन है, जो हमारे मन में भय का संचार करता है; यह नहीं कि सारे विश्व की गति रुद्ध हो जाएगी बल्कि यह कि यह देश, और शायद दूसरे अंगरेजी भाषी देश, आम प्रगति से पीछे रह जाएंगे और असहाय भाव से बिना किसी शिकायत के अतीत प्रेम के सड़े जल में पड़े रह जाएंगे। जहां तक मेरा सवाल है मैं आशावादी हूं और सर लेविस नेमिएर जब मुझे कार्यक्रमों और आदर्शों का परित्याग करने को कहते हैं, प्रो० ओकशाट कहते हैं कि हमारा कोई निश्चित गंतव्य नहीं है और हमें सिर्फ यह देखना

है कि हमारी नाव को कोई ध्वस्त न कर दे, प्रो० पापर अपने प्रिय टी-माडेल को छोटी-मोटी इंजीनियरी के बहाने सड़क पर लगाए हुए हैं, प्रो० ट्रेवर रोवर चीखते हुए उग्रवादियों की नाक पर घूंसा मार रहे हैं, और प्रो० मारिसन संतुलित संकीर्णता-वादी भावना से इतिहास लिखने की सलाह दे रहे हैं, तो मैं उथल-पुथल से भरी दुनिया पर निगाह डालूंगा और एक महान वैज्ञानिक के बेहद पुराने पड़ गए शब्दों में कहूंगा : 'और फिर भी, यह चल रही है।'

संदर्भ

1. जे० बर्कहार्ट : 'रिफ्लेक्शंस ग्रान हिस्ट्री', (1959), पृ० 31.
2. ए. दि टोकविले : 'दे ल एंशिएन रिजाइम', III अध्याय 1.
3. कैंब्रिज यूनिवर्सिटी लायब्रेरी : अतिरिक्त पांडुलिपि, 4870.
4. उद्धरण हीगेल की पुस्तक 'फिलासफी ग्राफ हिस्ट्री' से लिए गए हैं.
5. कैपिटल, iii (अंगरेजी अनुवाद, 1909), पृ० 369.
6. कैंब्रिज माडर्न हिस्ट्री, xii (1910), पृ० 15; इस ग्रध्याय का लेखक एस. लीथ्स, उक्त पुस्तक के संपादकों में से एक था और असैनिक सेवा में ग्रायुक्त के पद पर था.
7. (म्यूनिख), i (1953), पृ० 38.
8. इस विषय पर अधिक जानकारी के लिए देखिए इसी लेखक की पुस्तक 'दि न्यू सोसाइटी' (1951), ग्रध्याय 4 ग्रौर उसके बाद के ग्रध्याय.
9. ए. वोन मार्टिन : 'दि सोशियोलाजी ग्राफ दि रिनेसां', (अंगरेजी ग्रनुवाद, (1945), पृ० 18.
10. कैंब्रिज माडर्न हिस्ट्री : 'इट्स ग्रोरिजिन, आथरशिप ऐंड प्रोडक्शन', (1907), पृ० 14.
11. ई. जी. पुलीब्लैंक : 'चाइनीज हिस्ट्री ऐंड वर्ल्ड हिस्ट्री' (1955), पृ० 36.
12. इन उद्धरणों के लिए देखिए, ऐक्टन : सेलेक्शंस फ्राम कारेसपांडेंस (1917), पृ० 278; लेक्चर्स ग्रान माडर्न हिस्ट्री (1906), पृ० 4, 32; पांडुलिपि 4949 (कैंब्रिज यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी), 1887 के पत्र में जिसको ऊपर उद्धृत किया गया है, ऐक्टन ने पुराने ह्विग से नए ह्विग (ग्रर्थात लिबरल) में परिवर्तित होने की प्रतिक्रिया को 'चेतना की खोज' कहा. यहां 'चेतना' से उनका अर्थ स्पष्टत: 'सचेतनता' के विकास से है (देखिए, पृ० 130 ऊपर) और इसके साथ वे 'विचारों के शासन' को जोड़ते हैं. स्टब्स ने भी ग्राधुनिक इतिहास को दो भागों में बांटा है, जिनकी विभाजन रेखा फ्रांसीसी क्रांति माना है 'पहला भाग है शक्तियों, सेनाओं और साम्राज्यों का इतिहास ग्रौर दूसरा भाग उस इतिहास का है जिसमें ग्रधिकारों ग्रौर आकारों का स्थान विचार ले लेते हैं' (डब्ल्यू. स्टब्स : 'सेवेंटीन लेक्चर्स ग्रान दि स्टडी आफ मेडिवल ऐंड माडर्न हिस्ट्री' तृतीय संस्करण, 1900, पृ० 239).
13. देखिए; पृ० 33 ऊपर.
14. एनकाउंटर, vii नं० 6, जून, 1957, पृ० 17.
15. एम ग्रोकशाट : पालिटिकल एजूकेशन (1951), पृ० 22.
16. ग्रमेरिकन हिस्टोरिकल रिव्यू, नं० 1vi न० 2 (जनवरी, 1851), पृ० 272-73.
17. के. पापर : 'दि पावर्टी आफ हिस्टोरिसिज्म', (1857), पृ० 67, 74.
18. वही पृ० 64, 68.